

ध्वाः

दुर्लभबौद्धग्रन्थशोधपत्रिका

Journal

of

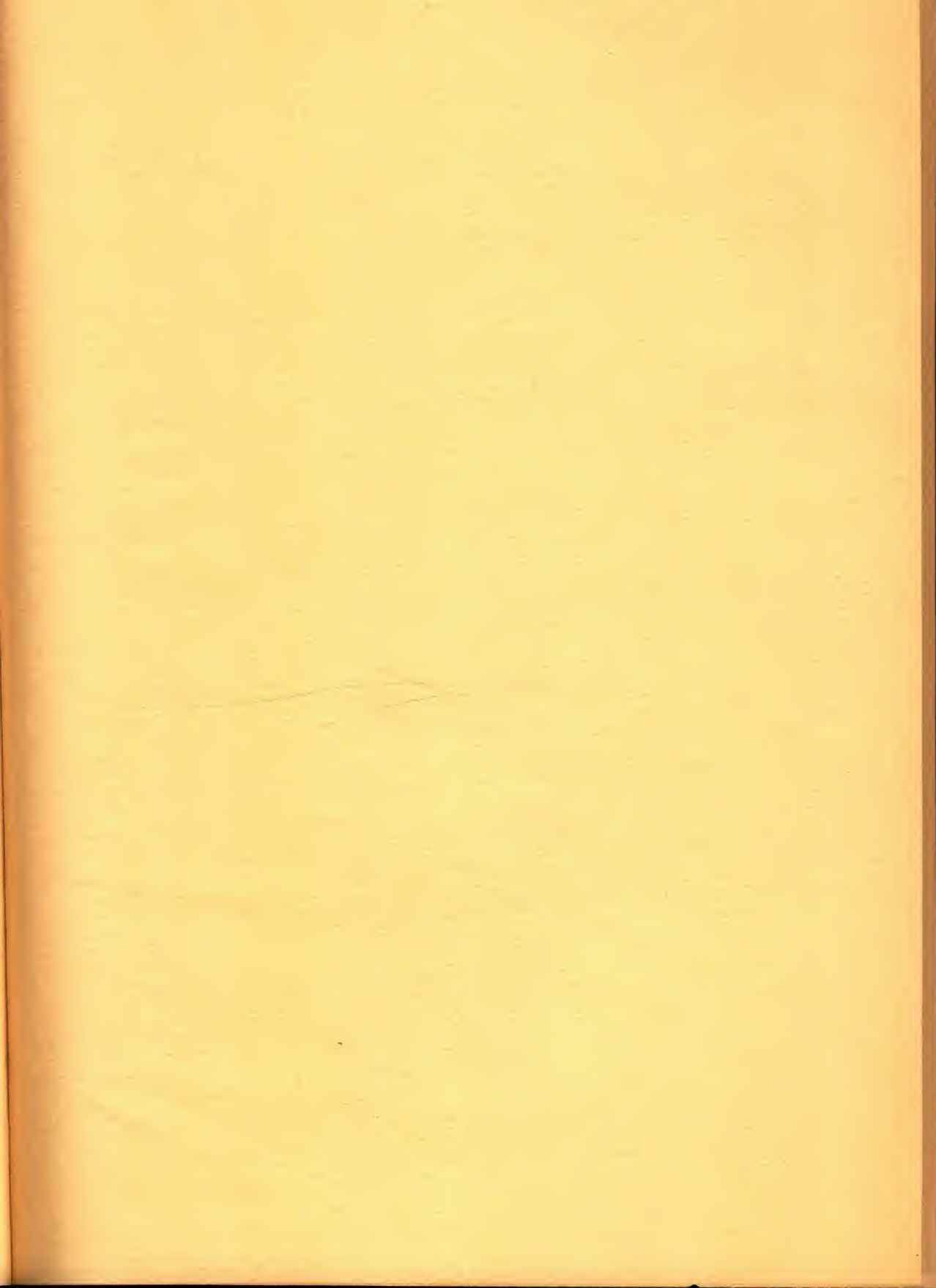
Rare Buddhist Texts Research Unit

34

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

2002





ध्वाः

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिका

34

सम्पादक

डचड समतेन

निदेशक

जनार्दन पाण्डेय



दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५४६

कार्तिक पूर्णिमा

ख्रीस्ताब्द २००२

सहायक-मण्डल

ठाकुरसेन नेगी
ठिनलेराम शाशनी
विजयराज वज्राचार्य

बनारसी लाल
छेरिंग डोलकर
रंजन कुमार शर्मा

३४वाँ अंक, ५५० प्रतियाँ, २००२

मूल्य : रु० ८५.००

© केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, २००२

प्रकाशक :

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१ ००७

मुद्रक :

सुरभि प्रिन्टर्स
सी० २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी-२२१ ००२

Dhīh
Journal
of
Rare Buddhist Texts Research Unit

34

Editors

NGAWANG SAMTEN

Director

JANARDAN PANDEY



RARE BUDDHIST TEXTS RESEARCH UNIT
Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varanasi

B.E. 2546

KĀRATIKA PŪRNIMĀ

C.E. 2002

Co-Editors

Thakur Sain Negi
Thinlay Ram Shashni
Vijay Raj Vajracharya

Banarsi Lal
Tsering Dolkar
Ranjan Kumar Sharma

Vol. xxxiv, 550 copies, 2002

Price : Rs. 85.00

© Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi, 2002

Published by:

Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221 007

Printed by:

Surabhi Printers
C. 27/273, Indian Press Colony
Maldahia, Varanasi-221 002

धी: XXXIV

विषयानुक्रमणी

स्तोत्र—

1. भगवन्नामाष्टोत्तरशतस्तोत्रम्	1-2
2. मण्डलदेवीस्तुतिः	3-4
कालचक्रतन्त्र में चिकित्साविधान — जनार्दन पाण्डेय	5-10
पद्मवज्र-सम्मत पाँच ज्ञानात्मक तत्त्व — प्रो० सुनीतिकुमार पाठक	11-22
चतुर्धर्मोद्दानसूत्र : संक्षिप्त परिचय — जलछेन नमडोल	23-30
तान्त्रिक अभिषेक का आचारशास्त्रीय पक्ष — बनारसी लाल	31-36
दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री — ठाकुरसेन नेगी	37-58
वात्सीपुत्रीय पुद्गल की समीक्षा : तत्त्वसंग्रह के परिप्रेक्ष्य में — पेमा तेनजिन	59-72
तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (4) — छेरिंग डोलकर	73-90
षडक्षरी-मन्त्र का माहात्म्य — अनु०-विजयराम वज्राचार्य	91-96
Symbols and Śakti Worship — N.C. Panda	97-108
Buddhist Tantric Texts : A Bibliography — Banarsi Lal	109-128
मण्डलसाधनविधिः	129-144
निबन्धों का संक्षिप्त परिचय (अंग्रेजी/हिन्दी)	145-148
निबन्धों का संक्षिप्त परिचय (तिब्बती)	149-154

जगद्दुःखैकभैषज्यं सर्वसम्पत्सुखाकरम् ।
लाभसत्कारसहितं चिरं तिष्ठतु शासनम् ॥

(बोधिचर्यावतार 10.57)

संसारो निर्वृतिश्चेति कल्पनाद्वयवर्जनात् ।
एकीभावो भवेद् यत्र युगनद्धं तदुच्यते ॥

(पञ्चक्रम 5.2)

प्रज्ञाकरुणयोरैक्यं ज्ञात्वा यत्र प्रवर्तते ।
युगनद्ध इति ख्यातः क्रमोऽयं बुद्धगोचरः ॥

(पञ्चक्रम 5.7)

भगवन्नामाष्टोत्तरशतस्तोत्रम्

[प्रस्तुत स्तोत्र सर्वतथागततत्त्वसंग्रह के 26वें परिच्छेद से उद्धृत कर दिया जा रहा है ।]

वज्रधातु महासत्त्व सर्वार्थ परमार्थक ।
शाक्यराज महाज्ञान वज्रात्मक नमोऽस्तु ते ॥ 1 ॥

सत्त्वसंभव तत्त्वार्थ सत्त्वहेतु महानय ।
महासत्त्वार्थ कार्यार्थ सत्त्वसत्त्व नमोऽस्तु ते ॥ 2 ॥

बुद्धधर्म महाधर्म धर्मचक्रप्रवर्तक ।
महावचन विद्याग्रय महासत्त्व नमोऽस्तु ते ॥ 3 ॥

महाकर्म महारक्ष सर्वकर्मप्रसाधक ।
महात्म सत्त्वचर्याग्र सत्त्वहेतो नमोऽस्तु ते ॥ 4 ॥

सर्वपारमिताप्राप्त सर्वज्ञज्ञानवेदक ।
सर्वसत्त्व महोपाय महाप्रज्ञा नमोऽस्तु ते ॥ 5 ॥

महाकारुणिकाग्रयाग्रय कारुण्य करुणात्मक ।
सर्वदान महामैत्री सर्वकार नमोऽस्तु ते ॥ 6 ॥

शाक्यसिंह महाशाक्य शाक्यशाक्य महामुने ।
विभो महाविनय नेयार्थ विनयाग्र नमोऽस्तु ते ॥ 7 ॥

धर्मधातु समप्राप्त धर्मधातु तथागत ।
वज्रनाथ महानाथ सत्त्वराशि नमोऽस्तु ते ॥ 8 ॥

महाप्रभ महालोक महावीर्य महाबल ।
महावीर सुवीराग्रय शम्भु वीर नमोऽस्तु ते ॥ 9 ॥

ब्रह्मन् स्वयंभू भगवन् शाक्यवीर महामुने ।
सर्वात्मक मुने शुद्ध धर्मराज नमोऽस्तु ते ॥ 10 ॥

आकाशकाय कायाग्रय त्रिकायाकायभावक ।
सर्वकाय महाकाय वज्रकाय नमोऽस्तु ते ॥ 11 ॥

अवाच वाच वाचाग्रय त्रिवाचावाचदर्शक ।
सर्ववाच सुमहावाच वज्रवाच नमोऽस्तु ते ॥ 12 ॥

अचित्त चित्त चित्ताग्रय त्रिचित्ताचित्तदर्शक ।
सर्वचित्त महाचित्त वज्रचित्त नमोऽस्तु ते ॥ 13 ॥

अवज्र वज्र वज्राग्रय त्रिवज्रावज्रशोधक ।
सर्ववज्र महावज्र वज्रवज्र नमोऽस्तु ते ॥ 14 ॥

सर्वव्यापि भवाग्रयाग्र सुगताधिपति जय ।
त्रैधातुक महाराज वैरोचन नमोऽस्तु ते ॥ 15 ॥

नाम्नामष्टोत्तरशतं यः कश्चिच्छृणुयात्सकृत् ।
पठेद्वा भावयेद्वापि सर्वो बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥ 16 ॥

अध्येष्यामि त्वां नाथ सर्वसत्त्वहितार्थतः ।
महाकारुण्यमुत्पाद्य धर्मचक्रं प्रवर्तय ॥ 17 ॥

[मण्डलदेवीस्तुतिः]

[यह स्तोत्र मण्डलसाधनविधिः नामक ग्रन्थ से संगृहीत कर प्रस्तुत किया गया है ।]

पूर्वे सुरेण मथनीं भीमाञ्जनद्युतिप्रभाम् ।
घोररूपां प्रचण्डाक्षीं काकशुण्डां नमाम्यहम् ॥ 1 ॥

उत्तरे यक्षराड्यूथं मथनीं श्यामवर्तिकाम् ।
महाक्षीं भीमरूपां च उलूकास्यां नमाम्यहम् ॥ 2 ॥

पश्चिमे रक्तवर्णाङ्गीं नागाधिपतिमर्दिनीम् ।
घोराट्टहासविकटां श्वानास्यां [च] नमाम्यहम् ॥ 3 ॥

दक्षिणे हेमवर्णाङ्गीं कृतान्तदर्पहारिणीम् ।
घोरघघ्ननादां च नमामि सूकराननाम् ॥ 4 ॥

अग्नौ मानामहादेवीं कृष्णपीताभविग्रहाम् ।
दहनाधिपतिमग्निं यमदाढीं नमाम्यहम् ॥ 5 ॥

नैऋत्ये पीतरक्ताभां क्रव्यादाधिपतिमर्दिनीम् ।
घोराट्टहासवदनां यमदूतीं नमाम्यहम् ॥ 6 ॥

वायव्ये रक्तश्वासा(श्यामा)ङ्गीं श्वसनाधिपमर्दिनीम् ।
मारारीं भयरौद्रीं च यमदंष्ट्रीं नमाम्यहम् ॥ 7 ॥

ईशाने श्यामकृष्णाङ्गीं सुगणदर्पहारिणीम् ।
मारारि (दि) ध्वंसनीं देवीं यममथनीं नमाम्यहम् ॥ 8 ॥

ब्रह्मेन्द्रकार्दयो(दिकान्) दुष्टान् ग्रहगणादिखेचरान् ।
मारारिध्वंसनं नाथमुष्णीषचक्रवर्तिं नमाम्यहम् ॥ 9 ॥

पृथ्वीनागाऽसुरान् दुष्टान् दग्धदृष्टीन् समर्दितुम् ।
यथेच्छासिद्धिदातारं सुम्भराजं नमाम्यहम् ॥ 10 ॥

यः सत्त्वार्थाय नित्यं प्रकटितविकटाटोपहूँकारनाद-
स्तस्य विघ्नोपशेषा घटितघनघनं भागीय सानन्दमूर्तिः ।
हं सौ जः कारकाव्यग्रहरविवदनो दारदुःखप्रणष्टा-
दिवकालक्रोधवज्री धृतकरकमलं क्रोधराजं नमामि ॥ 11 ॥

नृत्येनाक्रम्य पदभ्यां शिरसि कुचतटे त्र्यम्बकस्कन्धमात्रे
वज्रादिव्यग्रपाणौ परिगतशिखरं शीर्षमालेन्दुमौली ।
वाराहीश्लिष्टकण्ठो घनमिव तरि(डि)तं नागवर्योत्तरीयः
पायाच्छ्रीसंवरो वस्त्रिभुवनविजयी डाकिनीचक्रवर्ती ॥ १२ ॥

कालचक्रतन्त्र में चिकित्साविधान

—जनार्दन पाण्डेय—

['शरीरमाद्यं खलु, धर्मसाधनम्' यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है शरीर ही स्वस्थ नहीं रहेगा तो न ऐहलौकिक सिद्धि प्राप्त हो सकती है न पारलौकिक और न परमसुख प्राप्ति की साधना ही सम्भव है। यद्यपि योगी की चर्या नियमित होती है, उसका आहार-विहार संतुलित होता है फिर भी शरीर तो पाँच भौतिक होता है वह योगी का हो या सामान्य व्यक्ति का। उसमें त्रिदोषों (वात, पित्त, कफ) की किसी विकृति से रोग होना स्वाभाविक है। अतः तान्त्रिक ग्रन्थों में उन रोगों की चिकित्सा का विधान रहता है। यहाँ प्रसिद्ध ग्रन्थ कालचक्रतन्त्र के द्वितीय अध्यात्म पटल के छठे रसायन महोद्देश से कुछ चिकित्साएँ उद्धृत की जा रही हैं जो सर्वसामान्य के लिए भी उपयोगी हैं।]

आदौ संभावनीया सकलजिनतनुर्मन्त्रिणा सिद्धिहेतोः

कायाभावे न सिद्धिर्न च परमसुखं प्राप्यते जन्मनीह ।

तस्मात् कायार्थहेतोः प्रतिदिनसमये भावयेन्नाडियोगं

काये सिद्धेऽन्यसिद्धिस्त्रिभुवननिलये किंकरत्वं प्रयाति ॥

(का० त० 2.107)

सर्वप्रथम मानवों को सिद्धिप्राप्ति के लिए इस जिनतनु (बुद्ध शरीर) की रक्षा करनी चाहिए। शरीर ही नहीं रहेगा तो न इस जन्म में कोई सिद्धि मिलेगी और न परमसुख (मोक्ष) ही प्राप्त होगा। इसलिए साधक को प्रतिदिन नियमपूर्वक नाडीयोग की भावना करनी चाहिए। शरीर के स्वस्थ रहने पर ही तीनों लोकों में अन्य सिद्धियाँ किंकर (सेवक) की तरह सेवा को तत्पर रहती हैं।

नाडीयोग—शरीर में गुह्य, नाभि, हृदय, कण्ठ, ललाट और उष्णीष में 6 कमल या चक्र होते हैं जिनसे होकर दो नाडियाँ जिन्हें बौद्ध तन्त्रों में ललना और रसना तथा इतर तन्त्रों में इडा पिङ्गला नाम से जाना जाता है, वायु का निरन्तर वहन करती हैं। इन्हें सृष्टि संहार कारिणी कहा जाता है, क्योंकि इनमें ललना वायु को शरीर के भीतर ले जाकर उसे जीवित रखती है और दूसरी रसना, भीतर के वायु को बाहर निकाल उसे क्षीण करती है। इन दोनों नाडियों की गति को नियन्त्रित करना ही नाडीयोग है। इसे दूसरे शब्दों में प्राणायाम की प्रक्रिया कहा जाता है।

यह एक कठिन साधना है जो गुरु के सान्निध्य में रहकर धीरे-धीरे निरंतर अभ्यास करने से साध्य होती है। प्राणायाम शब्द का अर्थ ही है प्राणवायु को विश्राम देना। प्राचीनकाल में योगी महर्षिगण प्राणवायु को रोककर हजारों वर्षों तक समाधिनिष्ठ रहते थे। इसके लिए कठिन अभ्यास की आवश्यकता होती है। ऐसे प्राणायाम के पूर्णतः अभ्यस्त योगी के शरीर में यदि त्रिदोषों (वात, पित्त, कफ) की विकृति से कोई रोग होता है तो उसकी प्राणायाम की विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा ही शान्ति के उपाय कालचक्रतंत्र के इस प्रकरण के 108 से 123 तक 16 पद्यों में बताये गये हैं। इनमें अकालमृत्युवञ्चन, वातपित्तकफजनित रोगों का शमन, उदर रोग की शान्ति का उपाय, अरिष्टनिवारण, पृष्ठशूल निवारण, मूत्र कृच्छ्र, दन्तरोग, नेत्ररोग, ग्रन्थिभेद, कुष्ठरोग आदि प्रमुख हैं साथ ही किस चक्र से होती हुई नाड़ी को कहाँ पर कैसे रोकना यह प्रक्रिया भी बताई गई है। यहाँ हमने इन पद्यों का अनुवाद इसलिए नहीं किया कि कोई अनभ्यस्त व्यक्ति पढ़कर इस प्रक्रिया का प्रयोग करने लगे तो श्वास की विकृति से किसी दूसरे रोग का पात्र न बन जाय।

आगे ऐसी चिकित्सा बताई जा रही है, जिसका उपयोग योगी ही नहीं सर्वसाधारण भी कर सकता है—

अक्षोभ्यं किञ्चिदुष्णं मुखरुजशमनं दन्तशूलस्य चैव
 प्रत्यूषेऽक्षोभ्यनस्यं शिरसि रुजहरं तोयनस्यं तथैव ।
 कर्णे नेत्रे प्रविष्टं ह्युभयरुजहरं मूत्रमुष्णं च शीतं
 भूतार्तेऽक्षोभ्यनस्यं त्रिकटुकसहितं सौख्यदं चापि दष्टे ॥ 124 ॥

प्राणायाम चिकित्सा के बाद सामान्य व्यक्तियों के लिए भी उपयोगी विविध रोगों की चिकित्सा बताते हैं—

यदि मुखसम्बन्धी रोग हो तो अक्षोभ्य (मूत्र) को थोड़ा गरम (गुणगुना) करके देर तक मुख में रखना चाहिए इससे मुख के अन्दर के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। दाँतों की पीड़ा में भी इससे लाभ होता है। यदि शिर में पीड़ा हो तो प्रातःकाल इसका नस्य लेने से लाभ होता है। सादे पानी का नस्य लेने से भी शिरःपीड़ा में लाभ होता है। कान के रोग में गरम-गरम ताजा मूत्र डालने से तथा आँख के रोग में ठंडा करके डालने से रोग नष्ट होता है। यदि भूतप्रेत सम्बन्धी कोई बाधा हो तो मूत्र में त्रिकटु (सौँठ, पीपल, मरिच) का चूर्ण

मिलाकर सेवन करने से बाधा शान्त हो जाती है। यह प्रयोग साँप के काटने पर भी लाभ करता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सिद्धों, योगियों के लिए कोई भी पदार्थ अपवित्र नहीं होता, वे विष्ठा, मूत्र, शुक्र, रक्त, मज्जा आदि को भी उसी प्रकार ग्रहण करते हैं जैसे किसी अन्य भोज्य पदार्थ को, किन्तु सामान्य व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं है। अतः अक्षोभ्य=मूत्र शब्द से यहाँ गोमूत्र लेना चाहिए। वह भी जितनी छोटी बछिया का हो उतना अधिक लाभ करता है और कान के रोगों में बकरी के बच्चे का मूत्र विशेष लाभकारी होता है, ऐसा अनुभवी वैद्यों का मत है ॥ 124 ॥

विण्मूत्रं शुक्ररक्तं नृपललसहितं भक्षितं चायुदं स्यात्
सध्यानं पुष्पनस्यं हरति सपलितानङ्गजातान् जरां च ।
भुक्तं पञ्चप्रदीपं सकलरुजहरं मक्षिकाच्छर्दिमिश्रं
स्त्रीपुष्पं शुक्रमिश्रं त्वपहरति रुजं भक्षितं वर्षयोगात् ॥ 125 ॥

विष्ठा, मूत्र, शुक्र (वीर्य), रक्त (रजस्वला का), नृपलल (मनुष्य की मज्जा) इन पाँचों के संमिश्रण को पंचामृत कहा जाता है। इसके एक वर्ष तक निरन्तर भक्षण से आयुवृद्धि होती है। सिद्ध योगी इसी अर्थ में इसे ग्रहण करता है, किन्तु सामान्य व्यक्ति के लिए विड् शब्द से गन्धक, मूत्र से भृङ्गराज का रस, रक्त से अभ्रक, शुक्र से पारद तथा मज्जा से त्रिफला (हरड़, बहेड़ा और आंवला) का ग्रहण किया जाता है।

टीकाकार ने इसका परिमाण भी बताया है जैसे—विड 1 भाग, मज्जा $\frac{3}{4}$ भाग, रक्त $\frac{1}{2}$ भाग, शुक्र 1 भाग इन को एकत्र कर मूत्र में सात बार भावना दें। बार-बार धूप में सुखाकर शोधन करें। प्रतिदिन 1 कर्ष (तोला) प्रमाण में घी और मधु मिलाकर सेवन करें। छः मास तक सेवन करने से आयुवृद्धि होती है।

ध्यानपूर्वक पुष्प का नस्य लेने से वलीपलित (केशों का पकना झुर्रियाँ पड़ना आदि वार्धक्य के लक्षण) नहीं रहते। यहाँ भी पुष्प का अर्थ योगी के लिए रजस्वला का रक्त और सामान्य व्यक्ति के लिए अभ्रक है।

इसी प्रकार पञ्चप्रदीप (गो कु द ह न—पाँच प्राणियों का मांस) का मधु के साथ सेवन करने से मनुष्य सभी प्रकार के रोगों से मुक्त हो जाता है। रक्त (रजस्वलका) और

शुक्र को उचित मात्रा में एक वर्ष तक खाने से कभी बुढ़ापा नहीं आता। यहाँ भी सामान्य व्यक्ति के लिए रक्त से अभ्रक और शुक्र से पारद लेना चाहिए ॥ 125 ॥

वातघ्नं क्षारमम्बु प्रभवति मधुरं पित्तशत्रुः कषायः
सर्वं तिक्तं कटुकमपि तथा चौषधिर्वा रसो वा ।
श्लेष्मघ्नं छागदुग्धं त्रिकटुकसहितं माहिषं पित्तशत्रुः
वातघ्नं चोष्ट्रदुग्धं विविधरुजहरं गोपयः सर्पिरिव ॥ 126 ॥

खारा पानी वातनाशक होता है, मीठा पानी पित्तनाशक और कसैला कफनाशक। सभी प्रकार की तिक्त या कड़वी औषधि हो या रस हो कफनाशक ही होता है। इसी प्रकार त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) सहित बकरी का दूध कफनाशक होता है। चीनी मिला हुआ पित्तनाशक तथा सैंधानमक मिला हुआ ऊँट का दूध वातनाशक होता है। गाय का दूध और घी उपर्युक्त वस्तुओं (त्रिकटु, चीनी और सैंधव) सहित उचित मात्रा में मिलाकर खाने से सभी प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ 126 ॥

जातीक्राथाम्बु चोष्णं मुखरुजशमनं दन्तशूलस्य चैवं
तैलं वस्त्वम्बुपक्वं त्रिकटुकलवणैः कर्णरोगस्य नाशः ।
अज्यं क्षीराहिरक्तैः कृथितमपि सदा घ्राणरोगस्य नाशः
कर्कोटी लाङ्गलीन्द्री हरति सहखरां गण्डमालां प्रलेपात् ॥ 127 ॥

जाती (जाई) के पत्तों को आठ गुना पानी में पकावे, जब चौथाई शेष रह जाय तो उस गुनगुने क्वाथ को देर तक मुख में रखने से मुख के भीतर के रोग नष्ट होते हैं और दाँत की पीड़ा (दन्तशूल) का भी शमन होता है। तिल्ली के तेल में बराबर बस्त्वम्बु (बकरी का मूत्र) मिलाकर पकावे, जब तेल मात्र शेष रह जाय तब उसमें त्रिकुट (सोंठ, पीपल, मरिच) तथा नमक मिलाकर कान में डालने से कान के सभी रोग नष्ट होते हैं। गाय का घी आठ गुने गाय के दूध में पकावे, जब घी मात्र रह जाय तो उस क्वाथ में अहि (नागकेसर) तथा रक्त (कुंकुम) मिलाकर उसका नस्य लेने से नाक में होने वाले सभी रोगों का शमन होता है। कर्कोटी (बन्ध्य कर्कोटी=बन काकड़ी), लाङ्गली (नारियल), इन्द्री (इन्द्रवारुणी=इन्द्रायण) इनको गंधे के मूत्र में पीसकर लेप करने से गण्डमाला (गले की ग्रन्थियों का उभरना) नष्ट हो जाती है ॥ 127 ॥

इसके बाद दो पद्यों में वज्रकण्टकादि पापयोगों (संभवतः शीतला आदि) की चिकित्सा बताई है। 128 में प्राणायाम से और 129 में मन्त्र द्वारा।

तुल्यं धात्री च धान्यं त्वपरमपि तथा तित्तिडीपत्रचूर्णं
तोये चन्द्रार्कजुष्टे खलुविगतमले क्वाथयेत् पादशेषम् ।
तत्त्वार्थं खण्डमिश्रं पुनरपरदिनात् पीतमेतत् त्रिरात्रं
ग्रीष्मे सूर्याशुदाहं हरति मरणदं सप्तधातौ गतं च ॥ 130 ॥

आँवले का चूर्ण, धान्य (धनिये का चूर्ण), तित्तिडीपत्र (इमली के पत्ते) का चूर्ण बराबर भाग मिलाकर पानी में एक दिन रात भिगोकर धूप और चाँदनी में रखें। फिर उसे मसलकर मैल निकाल दें, जितना द्रव्य हो उसके आठ गुने पानी में उसका क्वाथ करें, उचित मात्रा में खांड मिलाकर दूसरे दिन से प्रातःकाल सेवन करें, तीन दिन पीने से शरीर के किसी भी धातु (रोम, चमड़ा, हड्डी आदि) में घुसा हुआ मृत्युदायक कभी सूर्याशुताप (लू) नष्ट हो जाता है ॥ 130 ॥

इसके बाद दो पद्यों में शुद्ध सुवर्ण, तांबा, लोहा, अभ्रक, अयस्कान्त आदि से रसायन द्रव्य बनाने का विधान है, जिसके 6 मास तक सेवन करने से मनुष्य की देह दिव्य हो जाती है और वह अमरत्व को प्राप्त कर सकता है। यह विधि सर्वसाध्य नहीं है। इसे कोई रसायन विशेषज्ञ जिसे इष्टसिद्धि भी हो वही बना सकता है।

तदनन्तर इस महोद्देश में बहुत सी ऐसी उपयोगी वस्तुओं के निर्माण की प्रक्रियाएँ बताई गई हैं जिनका चिकित्सा से तो सम्बन्ध नहीं है किन्तु उपादेयता है। जैसे—पुष्पक्रिया, बुद्धबोधिसत्त्वों की पूजा के निमित्त गन्ध धूपादि कक्षपुटों का निर्माण, धूपबत्ती का निर्माण, स्नानोदक की विधि, उबटन का प्रकार, सुगन्धित तैल (इत्र आदि) की विधि, सुगन्ध बढ़ाने वाले आसव, गन्धनाशक पदार्थ, सुगन्धित तेल बनाने के लिये तिलों की शुद्धि का प्रकार आदि बताया गया है।

इसके बाद गर्भरक्षा प्रकरण प्रारम्भ होता है। गर्भवती के सुखप्रसव के लिए यन्त्र निर्माण की विधि, गर्भ के प्रत्येक महीने में रक्षा करने वाली योगिनियों को प्रसन्न करने के लिये होम आदि का विधान है। इसके बाद गर्भवती के गर्भशूल निवारण के लिए निम्न औषधि हैं—

कुष्ठोशीरं कसेरुं तगरकुरबकं केशरं पङ्कजस्य
 पिष्ट्वा शीताम्बुना मन्त्रितमपि कुलिशैर्गर्भशूलेषु देयम् ।
 गर्भस्तम्भेऽष्टलोमानि नकुलशिखिनः पीषयित्वा प्रदेयं
 दुग्धाज्यं पायसान्नं दधिगुडसहितं दीयते वासरीणाम् ॥ 142 ॥

कुष्ठ (कूठ), उशीर, तगर की जड़, कमल की जड़ और कमल का केशर इनको ठंडे पानी में पीसकर कुलिश मन्त्र से अभिमन्त्रित कर पिलाना चाहिए। इससे गर्भशूल शान्त हो जाता है। कुलिशमन्त्र यह है—

“ॐ आः हूं अमुकायाः (गर्भिणी का नाम) गर्भशूलं हर हर स्वाहा”

इसी प्रकार यदि गर्भस्तम्भ हो तो नेवले के आठ रोंए और मोरपंख के आठ रोंए ठंडे पानी में पीसकर उपर्युक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित कर पिलावें तथा दूध, घी, पायस, दही, गुड़, इन पदार्थों को उस दिन-देवताओं के निमित्त अर्पण करें। आगे मास देवता, वत्सर देवताओं की बलि का भी प्रकार बताया है मातरों से योगिनियों तथा अन्य ग्रहों से ग्रसित बालकों का उपचार कहा है और हवन आदि से शान्ति के उपाय गिनाये हैं।

पद्मवज्र-सम्मत पाँच ज्ञानात्मक तत्त्व

—प्रो० सुनीतिकुमार पाठक—

[प्रस्तुत निबन्धकार ने धीः के 32वें अंक में पद्मवज्र कृत तन्त्रार्थावतार टीका के अनुसार सैंतीस तत्त्वों का परिशीलन प्रस्तुत किया था। उसी विचार सरणी के तारतम्य में इस अंक में “पद्मवज्र-सम्मत पाँच ज्ञानात्मक तत्त्व” नामक लेख में पाँच ज्ञानात्मक तत्त्वों—आदर्शज्ञान, समताज्ञान, सुविशुद्धधर्मधातुज्ञान, प्रत्यवेक्षणाज्ञान और कृत्यानुष्ठानज्ञान का पर्यालोचन भोट विद्वान् मूखस्-ग्रुब-जें के साक्ष्य के आधार पर प्रस्तुत किया है। विद्वान् लेखक का मानना है कि सैंतीस तत्त्वों के व्याख्यान से बौद्धतन्त्रों के इतिहास के सम्बन्ध में नयी दिशा मिलेगी।]

आर्यदेव ने चर्यामेलापक-प्रदीप (तोहुकु कुंचिका 1803) ग्रन्थ में तत्त्वों का पाँच प्रकार से विभाजन किया है, मन्त्रतत्त्व, मुद्रातत्त्व, आत्मतत्त्व, धर्मतत्त्व और देवतातत्त्व। आर्यदेव का आविर्भाव काल संभवतः ईसवी चतुर्थ सदी है। फिर उन्होंने तत्त्वों की गरिमा प्रकट करने के लिये भगवान् बुद्ध के वचनों का उद्धरण दिया—“तत्त्वहीना न सिद्ध्यन्ति कल्पकोटिशतैरपि।” एक सौ कल्पकोटि में भी तत्त्वज्ञान से हीन को मोक्ष मिलने की संभावना नहीं है। आर्यदेव ने तत्त्वज्ञान को पांचक्रम के अनुसार इस प्रकार से मोक्षोपाय के रूप में उपस्थापन किया है। तीन प्रकार के विवेक से देवतातत्त्वादि का निष्पादन किया गया है—कायविवेक से देवतातत्त्व का ज्ञान, वाग्विवेक से मन्त्रतत्त्व का ज्ञान, चित्तविवेक से मुद्रातत्त्व का ज्ञान होता है। पुनश्च, संवृतिसत्य से धर्मतत्त्व का ज्ञान और परमार्थसत्य से आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है।

परन्तु पद्मवज्र (8वीं-9वीं सदी) ने तत्त्वों की गणना भिन्न प्रकार से की है।¹ मुद्रा, मन्त्र, देवता, आत्मतत्त्व के अलावा आकर्षणादि चार तत्त्व, ज्ञानात्मक पाँच तत्त्व आदि सैंतीस तत्त्वों का विस्तार तन्त्रशास्त्र के इतिहास के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण है। बौद्धेतर तन्त्र शास्त्रों में भी तत्त्वों का ज्ञान इष्टसाधन के लिये आवश्यक है। ज्ञानात्मक पाँच तत्त्व हैं—1. आदर्श(-रूप-)ज्ञान, 2. समता-ज्ञान, 3. प्रत्यवेक्षणा-ज्ञान, 4. कृत्यानुष्ठान-ज्ञान और सुविशुद्धधर्मधातु-ज्ञान।

1. ‘धीः’ दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध-पत्रिका 32वें अंक में पृ० 43-50 में इस निबन्ध-लेखक ने पद्मवज्रकृत तन्त्रार्थावतारटीका के अनुसार 37 तत्त्वों की गणना दर्शायी है। उनमें से पाँच तत्त्वों का विचार इस निबन्ध में प्रस्तुत किया गया है।

भोट देश के विद्वान् मुखस्-गुब-जें ने इन पाँच ज्ञानों के साथ पाँच तथागत, पाँच महाभूत और पाँच स्कन्धादि का समन्वय किया है। जैसे—

पाँच ज्ञानतत्त्व	पाँच अभिसंबोधि के मन्त्र	पाँच तथागत*	पाँच स्कन्ध	पाँच महाभूत
आदर्श (रूप)- ज्ञान	चित्त-प्रतिवेधं करोमि	अक्षोभ्य	रूप	अप्
समता-ज्ञान	ॐ बोधिचित्तमुत्पादयामि	रत्नसंभव	वेदना	आकाश
प्रत्यवेक्षणाज्ञान	तिष्ठ वज्र	अमिताभ	संज्ञा	तेज
कृत्यानुष्ठानज्ञान	वज्रात्मकोऽहम्	अमोघसिद्धि	संस्कार	वायु
सुविशुद्ध- धर्मधातु-ज्ञान	ॐ यथा सर्वतथागतास्तथाऽहम्	वैरोचन	विज्ञान	पृथ्वी

* यह क्रम सर्वत्र एक जैसा नहीं है।

आर्यदेव ने इन पाँच तथागतों का काय, वाक् और चित्त के अनुसार पाँच कुल संबन्धित विभाजन किया है। विद्याधर साधक और वज्रसत्त्वों ने इन पाँच ज्ञानों को अभिसंबोधि का साधनोपाय माना है। पद्मवज्र ने इन पाँच ज्ञानों को अभिसंबोधि का उपाय किस प्रकार माना है, यह इस निबन्ध का विषय है।

इस प्रसंग में बोधि, अभिसंबोधि, संबोधि, सम्यक्सम्बोधि की आलोचना आती है। आचार्य वसुबन्धु ने “क्लेशावरण, ज्ञेयावरण आदि से परिच्छिन्न होना ही बोधि है”, यह बताया है।¹ आवरणादि से चित्त क्लिष्ट होता है। पाप और पुण्य, कृत्य और अकृत्य आदि तरह-तरह की भावना से चित्त में मैं कर्ता हूँ इस प्रकार आत्मा का विकल्पज्ञान होता है। गुह्यसमाज तन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि जिसमें पाप या पुण्य का भेद नहीं है उनको बोधि प्राप्ति हुई।²

तेन तस्य न पापं स्यात् पुण्यं नैव तथैव च ।

यस्य न पुण्यं पापोऽस्ति तस्य बोधिः प्रगीयते ॥

यहाँ ‘तेन’ शब्द से सुविशुद्धधर्मधातु का ज्ञान कहा गया है। मुख्यतया बोधि विशुद्धचित्त का स्वभाव मात्र है। यह स्वभाव सापेक्षता से परे है, जिससे धर्मनिःस्वभावता का ज्ञान उदित होता है। इसलिये, सब पदार्थों की समता का बोध होने से बुद्ध की आख्या

1. डाकिनीजालसंवररहस्यम् (पृ० 8) में उद्धृत—“आवरणपरिच्छेदो हि बोधिः”, सारनाथ, 1990.

2. गुह्यसमाजतन्त्र, विनयतोष भट्टाचार्य, बड़ौदा, 18.198

मिलती है। नामसंगीति की टिप्पणी अमृतकणिका में कहा गया है, 'सर्वपदार्थानां समताऽवगमाद् बुद्धः' (पृ० 70 सारनाथ संस्करण) इस प्रकार समता के विबोधन से प्रबुद्ध सुख में संबुद्ध विराजित हैं, यह टीकाकार ने दर्शाया है। वह सुख ही सहजसुख है जिसके उल्लास से सब धर्मों का स्वभाव अर्थात् धर्मनिःस्वभावता का अवबोध होता है।

सम्बुद्ध होने के लिये अभिमुखीनता ही अभिसंबोधि है। अभिसंबोधि केवल संवर नहीं है। वज्रात्मकता से सर्वताथागत में आध्यात्मिक 'अनुत्तर उत्तरण' का मार्ग-फल है। इसलिये अभिसंबोधि निर्माणकाय से संभोगकाय में सब सत्त्वों के हित और सुख साधन की अभिमुखीनता है।

फिर संबुद्ध जब सम्यक् रूपेण प्रबुद्धसुख से विराजमान हों, तब ये सम्यक्संबुद्ध होते हैं। तथागत का व्यूहलोक में त्रिकाय और परिनिष्पन्न स्वभाव में विमलज्ञानमात्र ही सम्यक्संबुद्ध है।¹ संबुद्ध यथारूपेण निर्माणकाय में, उष्णीषादि चक्र और देवमंडल के साथ संभोगकाय और अकनिष्ठलोक में भी विहार करता है।

इस पृष्ठभूमि पर उपर्युक्त पाँच प्रकार के ज्ञान का परिचय इस प्रकार है। जैसे :—

आदर्श-(रूप) का ज्ञानतत्त्व

विद्याधर या वज्रसत्त्व के द्वारा निर्माणकाय तथा शारीरपिंड में विश्व-ब्रह्माण्ड के बिंब का प्रत्यक्षीकरण ही तन्त्र का साधनोपाय है। पुनरपि, विश्वबिंब के साथ शारीर-पिंड का अनुषंग या प्रबन्ध ही तन्त्र का मुख्य विषय है। क्रियातंत्रादि चार प्रकार के तन्त्रों से सामान्यतया विश्वबिंब के प्रत्यक्षीकरण के लिये गुरुप्रवचन सर्वथा प्रयुज्य है। यह मूलतया योगारूढ़ प्रत्यक्षज्ञान है। ग्राह्यग्राहकादि सांवृतिकज्ञान से क्रियातंत्रादि विकल्प ज्ञान का आधारभूत है। सत्यद्वय के ज्ञान से क्रमेण जब योगी ग्राह्यग्राहकरहित, कल्पनापोढ़ चित्त से विश्वबिंब को प्रत्यक्ष करते हैं तब उनको समर्थ योगी या विद्याधर कहा जाता है।

सेकोद्देशटीका में विश्वबिम्ब का योगिप्रत्यक्ष ज्ञान इस प्रकार कहा गया है—'अन्तरालाऽवलंबितयाऽधोन्मीलितलोचनाभ्यां शून्य आकाशे ग्राह्यग्राहकरहिते यन्नानुकल्पितं स्वप्नवद् विश्वं योगिप्रत्यक्षं तद् बिम्बं विश्वबिम्बम्', उस विश्वबिंब का निस्तरंगित आलय-चित्त में प्रतिभास के लिये द्रवत्व से भरे हुए बोधिचित्त की करुणाद्रता का उपयोग किया जाय। जैसे चन्द्र का प्रतिबिम्ब प्रवाहरहित स्थिर जलाशय में प्रतिच्छाया

1. "संबुद्धं प्रबुद्धसुखम्" इस वचन की पुष्टि आर्यमंजुश्रीनामसंगीति की अमृतकणिकाटीका में "सहजसुखोल्लासेन सर्वधर्मविबोधात् संबुद्धः" व्याख्या से होती है। पृ० 7, सारनाथ संस्करण।

को लाता है, इस प्रकार अक्षोभित ग्राह्यग्राहकरहित अनाविल परिशुद्ध चित्त का आशय में विश्वज्ञान का बिंब आदर्श या दर्पण में प्रतिभासित रूप से प्रकाश होता है।

उस समय योगी या बोधिसत्त्व 'चित्तप्रतिवेधं करोमि' अक्षोभ्य से अभिसंबोधि का संवर ग्रहण करता है। लंकावतारसूत्र में योगी द्वारा धर्मप्रतिवेध के किस उपाय से चित्त परिशुद्धि का साधन किया जाय, इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।¹ प्रथमतः चित्त के प्रतिवेध के लिये प्रतिज्ञा अभिसंबोधि का प्रथम सोपान है। जिससे वज्रसत्त्व के सुविशुद्ध-धर्मधातु का ज्ञानोदय होता है।

2. समता का ज्ञान तत्त्व

'सर्वे सत्त्वाः सुखिता भवन्तु' अर्थात् सत्त्व मात्र को सुखी करने के लिये बौद्ध मात्र की प्रतिज्ञा है। परन्तु इस प्रतिज्ञा को पूरण करना इतना आसान नहीं है। श्रावकनय, बोधिसत्त्वनय और मन्त्रनय तथा बौद्धतन्त्रशास्त्र में तरह-तरह के उपायकौशल्य का प्रयोग किया गया है।

शाक्यमुनि बोधि प्राप्ति के पश्चात् सात सप्ताह तक अमनस्क योग² में वज्रासन में विराजमान थे, यह बात परम्परा से स्वीकृत है। बाद में, ब्रह्मा सहांपति आदि देवों ने प्रार्थना की थी कि उनको जो बोधिज्ञान प्राप्त हुआ है उसे लोककल्याण के लिये प्रकट किया जाय। तदनुसार शास्ता ने सारनाथ में कौण्डिन्यादि भिक्षुओं को देशना दी। इस अवधि-काल और देश या स्थान का परिवर्तन लक्षणीय है। परम्परा के अनुसार पात्रता की भिन्नता भी दिखाई पड़ती है। जैसे, मृगदाव में विनेयजन सामान्य मनुष्यजन थे। गृध्रकूट पर्वत में मध्यमा प्रतिपत् पर शास्ता ने सुदुर्दश गंभीर प्रज्ञापारमिता का ज्ञान मुख्यतः अर्हत, देवों, बोधिसत्त्वों आदि सूक्ष्मेन्द्रिय सत्त्वों के सामने संकेत से प्रकट किया था। पुनरपि शास्ता ने स्वसंवेद्य विशुद्धधर्मधातु का ज्ञान धान्यकटक श्रीपर्वत में अभिसन्धि तथा योगिचित्त संधाय योगि-विद्याधरों, देवों, वज्रसत्त्वों, यक्ष नागादि के सामने आत्यन्तिक कल्याण के लिये मौन भाव से ज्ञापन किया। परम्परागत रूप से काल, स्थान और पात्रता के परिवर्तन से भवचक्र के सत्त्वों की भिन्नता स्पष्ट होती है।

1. आर्य लंकावतारसूत्र (3.55-56) नंजिओ संस्करण।

आर्याणां दर्शनं शुद्धं विमोक्षत्रयसंभवम् ।
उत्पादभङ्गनिर्मुक्तं निराभासप्रचारिणाम् ॥
निराभासो हि भावानामभावे* नास्ति योगिनाम् ।
भावाभावसमत्वेन आर्याणां जायते फलम् ॥

* बुनिओ नंजिओ ने तिब्बती पाठ के अनुसार 'भावश्च भवो' पाठ का उल्लेख किया है।

2. अद्वयवज्रने अमनसिकार विषय पर आग्रह किया था। इस लेखक ने इस विषय पर विस्तार से तिब्बती स्रोत के साथ विचार प्रस्तुत किया है।

इस भिन्नता से सत्त्वों की चित्तवृत्तियाँ तरह-तरह की होती हैं यह स्पष्ट है। तब समता का ज्ञान किस प्रकार से संभव हो सकता है, यह प्रश्न आता है। अतः 'बोधिचित्तं उत्पादयामि', यह संवर अभिसंबोधि का दूसरा सोपान है। यहाँ ॐ मन्त्राक्षर का प्रयोग विशेष द्योतक है।¹ विश्वबिम्ब का ध्वन्यात्मक प्रकाश आलि अर्थात् स्वरवर्णों से होता है। वे स्वरवर्ण चन्द्रकलात्मक होते हैं। क-कारादि कालि या व्यंजन वर्ण सूर्यकला समन्वित होते हैं। सूर्य-चन्द्र के समताज्ञापक ओऽम् मंत्र का पूर्वागम विश्वसंसार में बोधिचित्त का पूरक मात्र है। सूर्य और चन्द्र की कलायें मन्त्रनय की आधारभूत तेजोराशि है। इसका विचार अन्यत्र किया जायेगा।

बोधिचित्त में शून्यता के साथ महाकरुणा की युगनद्धता समताज्ञान की पुष्टि है। स्थान, काल और पात्रता की भिन्नता को बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर ने किस प्रकार से समताज्ञान के द्वारा पोषण किया था यह आर्यकारण्डव्यूह सूत्र में दर्शाया है।² वहाँ पर भी ॐ मणिपद्मे हुँ षडक्षर मन्त्र की द्योतना विशेषार्थक है। महामायातंत्रटीका में भी समताज्ञान का प्रायोगिक उपयोग महामैत्री और महाकरुणा के साथ सम्प्रयुक्त है, ऐसा कहा गया है। यह रत्नसंभव का ताथागत-ज्ञान है।

प्रत्यवेक्षणा का ज्ञानतत्त्व

प्रत्यवेक्षणा √ ईक्ष धातु से निष्पन्न है। ईक्षण क्रिया सम्पादन के लिये आलोक की सापेक्षता पर सदैव उपयोग किया जाता है। अतः योगिप्रत्यवेक्षणा तथागत अमिताभ के अनुत्तर तत्त्व की आधारभूत है। अमिताभ की द्युतियाँ अपरिमित हैं। इसलिये अमिताभ को अंधकारमय विश्व में आलोक का द्योतक माना जाता है। जैसे, अनन्ताभ, समन्ताभ, अनुपमाभ, अर्चिराज, शुद्धाऽऽलोक, आनन्दाऽऽलोक, प्रज्ञाऽऽलोक, अनिर्वाणाऽऽलोक, अचिन्त्याऽऽलोक, दुर्निरीक्ष्याऽऽलोक, अनिर्वचनीयाऽऽलोक आदि विशेषणों से अमिताभ की गरिमा व्याप्त है। इन आलोकों की द्युतियाँ अनन्त कोटि विश्व में परिव्याप्त है, जिनका ज्ञान योगिचित्त को द्योतित करता है।

1. गुह्यसमाजतन्त्र की चन्द्रकीर्तिकृत प्रदीपोद्योतनटीका के षष्ठ पटल में "ॐकारं त्रिवज्रात्मकं" कहा गया है। ॐ शून्यतादि मन्त्र में ज्ञानवज्र है। पुनरपि, उस टीका के द्वादश पटल में भी इस प्रकार कहा गया है—

आदशाख्यमहाटव्यां प्रदेशे समताह्वयि ।

प्रत्यवेक्षाख्यविजये विशुद्धगिरिगह्वरे ।

प्रकृत्यानुष्ठानात् त्रिकुंजेषु येष्वेवं प्राप्यते सुखम् । (पटना संस्करण, पृ० 120)

2. आर्यकारण्डव्यूह-सत्यव्रत सामश्रमी के द्वारा संपादित संस्करण में—“अथामिताभस्तथागतोऽर्हन्सम्यक्-संबुद्धोऽवलोकितेश्वर एतदवोचत् । यदि कुलपुत्र इन्द्रनीलचूर्ण...न संविद्यंते तानि चूर्णानि भगवन्नानारंगानि संप्रोक्तव्यानि.....अथावलोकितेश्वरो बोधिसत्त्वो.....षडाक्षरीं महाविद्यामनुप्रयच्छति । सर्वविघ्न-विनायका निष्पलायन्ते यक्ष-राक्षस-कुम्भाण्डा-महाकालमातुगण-सहिताः।” पृ० 56

अतः विश्वबिम्ब की प्रत्यवेक्षणा के लिये वज्रसत्त्वों विद्याधरों को 'तिष्ठ वज्र' चार अक्षर मन्त्र की सिद्धि-प्राप्त होती है। वज्र-विद्युत की इरम्मदगति और क्षणमात्र की प्रभा से अंतरिक्ष और भू-मंडल प्रकंपित होते हैं। वे महान् शक्तिधर हैं। विद्याधर भी महाशक्तिसंपन्न होना चाहिये। इसलिये वज्र की स्थापना का प्रणिधान 'तिष्ठ वज्र' चार अक्षर मन्त्र से किया गया। फिर वज्र का लक्षण वज्रशेखर तन्त्र में इस प्रकार है—

दृढं सारमऽसौशीर्यमऽच्छेद्याऽभेद्यलक्षणम् ।

अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥

शून्यता ही वज्र है। वज्र दृढ, सारवान्, अशिथिल, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अविनाशी है। संसार में सब सत्त्वों के हित और सुख के लिये वज्रसत्त्व वज्रजाप तथा प्राणायामादि से बिन्दुस्थान में पिंडरूप निरोधित वायु को दृढ़ता से धारण करता है। शून्यता की ज्ञानमात्रता से ही वज्रसत्त्व का स्वभाव प्रकटित है। प्रदीप के साथ आलोक का भेद और ऐक्य तथा अविनाभाव सम्बन्ध निरवच्छिन्न है। इस प्रकार शून्यता और करुणा का अविनाभाव ही साधनोपाय है।¹ उससे अमिताभ-वज्रजापी के उष्णीषकमल से रश्मिजाल का विकिरण होता है, यह अभिसम्बोधि है। वज्रसत्त्व विश्वबिम्ब की प्रत्यवेक्षणा में समर्थ होता है। स्वसंवेदनीय ज्ञानमात्रता से वज्रसत्त्व विश्वकल्याण का उपायकौशल्य प्रकट करता है।

यह वज्र विश्ववज्र है। जिससे वज्रसत्त्व की अनुत्तरबोधि की सम्भावना सेवा, उपसाधन, साधन और महासाधनादि चार योगांगों से वज्रोपम दृढ़ होती है। गुह्यसमाज की खसमवृत्तिटीका में वज्रसत्त्व का प्रबुद्ध सुख इस प्रकार कहा गया है—

आकाशोत्पादचिह्नत्वादनादिनिधनः परः ।

सर्ववज्रमयः सत्त्वो वज्रसत्त्वः परं सुखम् ॥

1. अद्वयवज्रसंग्रह में वज्रसत्त्व के स्वभाव के प्रसंग में यह उपमा है—

वज्रेण शून्यता प्रोक्ता सत्त्वेन ज्ञानमात्रता ।

तादात्म्यमनयोः सिद्धं वज्रसत्त्वस्वभावतः ॥

शून्यताकृपयोर्भेदः प्रदीपाऽऽलोकयोरिव ।

शून्यताकृपयोरेक्यं प्रदीपाऽऽलोकयोरिव ॥

यहाँ करुणा शब्द के स्थान में कृपा का प्रयोग विशेष लक्षणीय है। अद्वयवज्र का आविर्भावकाल आनुमानिक 10वीं सदी था। जिस समय संभवतः करुणा शब्द का नीतार्थ दुःख से उद्धार की कामना करने वाली करुणा में बदल गया था। काम या कामना शब्द भी रागात्मक है। रागमयी साधना धीरे-धीरे डाकिन्यादि काययोग साधन में परिवर्तित हो गयी। जिससे करुणा शब्द का प्रयोग कमलकुलिश का एवमादि नेयार्थ में प्रयुक्त था। अथ च, कृपा शब्द के प्रयोग में यह कहा गया है कि चिन्तामणि की तरह अशेष सत्त्वों के कल्याणात्मक अर्थकरण को ही कृपा कहा गया है। (धी: अंक-4, पृ० 40 द्रष्टव्य)

कृत्यानुष्ठान का ज्ञानतत्त्व

उपर्युक्त सारणी के अनुसार वज्रसत्त्व को शून्यता से सायुज्यीकरण के लिए 'वज्रात्मकोऽहम्' मन्त्र ही अमोघसिद्धि तथागत का कृत्यानुष्ठान-अभिसंबोधि का विषय है। स्वतः ही संस्कारस्कन्ध से कृत्य और अकृत्य का भेद निर्णीत होता है। पृथग्जन जब से गोत्रभू आदि क्रमेण आर्यगोत्र में प्रवेश करता है कृत्य या करणीय कर्मों के अनुष्ठानों के द्वारा तब से वज्रधर की योगांग साधना का निष्पादन कर सकता है। अमृतकणिका में पंचाकारभावना¹ से कृत्यानुष्ठान इस प्रकार कहा गया है। कृत्यानुष्ठान ज्ञान के लिये अनुत्पन्न धर्मों में संस्काररहित होने पर संस्कारस्कन्ध बोधि, बुद्धत्व आदि सत्त्वों का जीवित विषयक ज्ञान की सापेक्षता से परे जाने में समर्थ होना है। जिससे हेतु, फल आदि से कृत्य और अकृत्य अनुष्ठान निरर्थक हैं, ऐसा ज्ञान होता है। यह निर्माणकाय से संभोगकाय में उत्तरण का सोपान है।

सकल तथागत के काय-वाक्-चित्तादि त्रिवज्र को² वज्रधर अपने हृदय में संस्थापन करने में समर्थ होता है, तब अमोघसिद्धि का हृदय कृत्यानुष्ठान निष्पादन करता है। ऐसा मूखस्-गुब-जै ने स्पष्ट किया है। आनापानादि प्राणायाम क्रिया के व्यापार से कृत्यानुष्ठान ज्ञान का विश्वबिम्ब के साथ शून्यता से सायुज्यीकरण संभव होता है।

गुह्यसमाजतन्त्र में यह कहा गया है—

मोहो द्वेषस्तथा रागः सदा वज्रे रतिः स्थिता ।

उपायस्तेन बुद्धानां वज्रयानमिति स्मृतम् ॥

1. आचार्य चन्द्रकीर्ति ने पंचाकार साधना का विषय गुह्यसमाजतन्त्र की षट्कोटि व्याख्या में मंडलविधान आर्षव्याख्यान की उद्धृति से इस प्रकार दर्शाया है।

प्रज्ञोपायैकसूत्रेण धर्मात् संभोगमुत्तमम् ।

सूत्रितं मंडलं चैतं प्रतीत्या द्वादशांगतः ॥

सत्यार्थं चतुरस्रं स्यात् ब्रह्मविहारकोणकम् ।

द्वार-संग्रह-वस्त्वाख्यं प्रत्येकं तूर्यसंज्ञकम् ॥

धर्मतत्त्वार्थसंकेतं चक्राभ्यन्तरमंडलम् ।

अभेद्यज्ञानचिह्नं तद् वज्रेन्द्रनीलमुद्रकम् ॥

पंचाकारप्रभेदाख्यं शूलं संसारनाशकम् ।

प्राक्स्थिताऽऽदर्शमात्रं तु चक्रं ज्वालाविभूषितम् ॥ (पटना संस्करण, पृ० 43)

2. वज्रधर धर्मधातु के ज्ञान को उत्पादनरोध आदि से विरहित करता है। उस ताथागतज्ञान के प्रकाश से अमिताभ, अमोघसिद्धि, वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसंभव का दैवतस्वभाव प्राप्त होता है। अमृतकणिका टीका में रविश्री ने यह स्पष्ट किया है, जैसे, "प्रज्ञाज्ञानमेव मूर्तिः शरीरं यस्य स प्रज्ञाज्ञानमूर्तिः हृदि स्थितो अमिताभः" (पृ० 18-19)। "वाचां स्वरव्यंजनात्मिकानामीश्वरोऽनाहतस्वभावोऽमोघसिद्धिरूपां चक्रवर्ती" इत्यादि (पृ० 19)।

बुद्धों का उपाय मोह, द्वेष रागादि से परे नहीं होता है। संवृत्तिसत्य का ज्ञान न होने के कारण पृथग्जन मोहादि से कृत्याकृत्य-विचार में अनभिज्ञ होते हैं। 'वज्रात्मकोऽहम्' इस संवर से समर्थ वज्रसत्त्व परमार्थतः शून्यताज्ञान के आस्पद हैं।

सुविशुद्ध-धर्मधातु का ज्ञानतत्त्व

सकल सत्त्वों के हित और सुख के लिये निवेदित-प्राण जीवित बोधिसत्त्व या वज्रसत्त्व निर्माणकाय से उत्तरण चाहते हैं। पृथ्वी महाभूत के साथ नैकट्य रहने से भी वे वैरोचन तथागत से अभिसम्बोधि प्राप्त होने में समर्थ हैं। वे सम्भोगकाय से तथागतकुल में विराजित होने के योग्य होते हैं। इसलिये सुविशुद्ध-धर्मधातु का ज्ञान उनका पूरक होता है।

'ॐ यथा सर्वतथागतास्तथाऽहम्' इस मन्त्र के द्वारा वज्रात्मक वज्रसत्त्व तथागतव्यूह में प्रवेश के अधिकारी होते हैं। वह आनन्द चतुष्टय¹ के तुरीय सहजानन्द की स्थिति है। जिस समय वे विमलज्ञानमात्र हैं।

जगत् में आनन्द के सिवाय सहजभाव दूसरा कुछ नहीं है। परन्तु सत्त्व अपने अपने कृतकर्म के अनुसार पंचस्कन्धों के आशय बनते हैं। दुःख के भागीदार होते हैं। इसलिये कृत्य और अकृत्य तथा शुक्लकर्म कृष्णकर्म से सत्त्वों को यथाभूतज्ञानदर्शन² की परिणामना सोचना आवश्यक है। इसलिये बुद्धवचन का तीन प्रकार का शासन है। यथा श्रुति, संकेत और अभिसन्धि। धर्मधातु अपरिशुद्ध होने के कारण रूपादि पंचस्कन्ध के आशय में सत्त्व दुःखी हैं। परन्तु यथाभूतज्ञानदर्शन के लिये धर्मधातु परिशुद्धि आवश्यक है। इसलिये तथागत का परिचय इस प्रकार है—

विश्व व्यवस्थित है। इस विश्व को व्याप्त होते हुए गति और अगति निरोध होने वाली जो गमनशीलता और आगमनशीलता है वह तथागत है।³ फिर कायसाधन के लिये

1. बौद्धतंत्र में आनन्द का स्वभाव और उसका प्रभेद तन्त्रशास्त्र की धारावहिकता अलग-अलग है। सामान्यतः वज्रदेह में कायानन्द, वागानन्द, चित्तानन्द और ज्ञानानन्द हैं।
2. यथाभूतज्ञानदर्शन सामान्यतया चित्त के विकल्पज्ञानगोचर के विपरीत है। आर्यलंकावतारसूत्र में इस प्रकार कहा गया है—अतएवास्मात् कारणात् महामते नाभिलापसद्भावात् सन्ति सर्वधर्माः। दृष्टं चैतन्महामते इह लोके कृमिमक्षिकैवमाद्या सत्त्वविशेषा अनभिलापेनैव स्वकृत्यं कुर्वन्ति। तत्रेदमुच्यते—

आकाशं शशशृंगं च वन्ध्यायाः पुत्र एव च ।

असन्तो ह्यभिलाष्यन्ते तथा भावेषु कल्पना ॥

हेतुप्रत्ययसामग्र्यां बालाः कल्पन्ति संभवम् ।

अजानानां नयमिदं भ्रमन्ति त्रिभवालये ॥ (2.164-165)

(बुनिओ नंजियो संस्करण, पृ० 106-107)

3. आगतश्च गतश्चैव व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः ।
गत्यागतिनिरोधाच्च तथागत इति स्मृतः ॥

कहा गया है—तथता अवधूती नाड़ी, जिससे धर्मधातु का उदय होता है। वहाँ से लेकर सर्वगुण से समन्वित प्राणायाम वायु के निरोध से समन्तप्रभा उष्णीषचक्र में फल प्राप्ति होने से तथागत वायु सिद्ध होता है। इस विषय पर काय(चक्र)योग प्रतिस्थापित है।

यद्यपि इन पाँच ज्ञान के तत्त्वों को आचार्य पद्मवज्र ने अभिसंबोधि का उपाय माना है, तब भी इनकी सापेक्षता अस्वीकार्य नहीं है। संभोगकाय में तथागतों से अद्वय तथता या ज्ञानतत्त्व का प्रकाश होता है, जो त्रिविध तन्त्र में प्रबन्धित है। इस प्रसंग में अक्षोभ्यादि पाँच तथागतों का सन्निकर्ष द्योतित है। यह प्रसंग स्वसंवेदनीय है, वाक्पथातीत है। कारण, अकनिष्ठभूमि तीन प्रकार के ध्यानों के नवीं भूमि से परे चतुर्थ ध्यान की आठवीं भूमि की सम्पदा होती है। स्पष्टतः वह अनुत्तर सहजवेद्य=प्रपंचरहित ज्ञान है। जो बोधिसत्त्वों का प्रापणीय है। अतः वे पंचविध ज्ञान तत्त्व हैं, यह आचार्य पद्मवज्र ने प्रतिस्थापित किया है।

बौद्ध-तन्त्रशास्त्र में धारावाहिकता की दृष्टि से तत्त्वों का क्रम हेतुतन्त्र, फलतन्त्र और उपायतन्त्र में एक जैसा नहीं माना गया है। फिर पितृतन्त्र और मातृतन्त्र की अवधारणा से भी अलग-अलग उपाय स्वीकृत हैं। सैंतीस तत्त्वों के व्याख्यान से बौद्धतन्त्र के इतिहास पर नई दिशा पड़ेगी। यह अलग अध्ययन का विषय है।

परन्तु ये पंचज्ञान सर्वार्थसिद्ध बोधिसत्त्व के अभिसंबोधि लाभ को जिस प्रकार से प्रचोदित किये, उसे भोटदेशीय महात्मा पण्डित म्खस्-गुब-जें दगे लेगस् दपल् व्सङ् पो ने (ई० 1385-1438) ग्युद स्दे स्प्यहि नम पर ग्जग् प ग्यस् पर् ब्जद अर्थात् तन्त्र की विस्तृत व्यवस्था में प्रस्तुत किया है। वह मूल अंश यहाँ संयोजित है।

༄༅། །མཁའ་གུབ་ཆོས་རྒྱུ་དཔེ་ལེགས་དཔལ་བཟང་པོས་མཛད་པའི་རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་པར་བཞག་པ་རྒྱས་པར་བཟློད་པ་ལས་ (Toh. Cat. no. 5489) མཛོད་པར་བྱང་ཆུབ་ལྟོོ།

༄༅། །མཛོད་བྱང་ལྟོོ་ལ་སྤྱོད་བྱུང་སྤྱོད་པའི་རྣམ་འཁུལ་གྱི་དབང་ཏུ་བྱས་པའི་མཛོད་བྱང་ལྟོོ་དང་རྒྱལ་གཏུལ་བྱའི་ཉམས་ལེན་གྱི་དབང་ཏུ་བྱས་པའི་མཛོད་བྱང་ལྟོོ།

आदि वचन का उद्धरण देते हुये टीकाकार रविश्री ने अमृतकणिका में सहजसुख के उदय के लिये तथागत शब्द का इस प्रकार व्याख्यान किया है—“तथा तथता कर्मादिमुद्रा, तत्र गतमाऽऽनन्दादि-सुखज्ञानं यस्य स तथागतः।” फिर कायचक्रयोग से भी नेयार्थ बताया गया है। जैसा—“तथा सहजसुखाकारेणोष्णीषकर्णिकातो वज्रमणिवरटके आगतं विवृत्या मणिवरटकात् पुनरुष्णीषचक्रगतं तथागतम्” (पृ० 7)। यहाँ तथागत शब्द के प्रयोग में लिंगभेद तथा समासादिभेद लक्षणीय है। वस्तुतः तथागत शब्द का यह व्याख्यान महायान महापरिनिर्वाणसूत्र और महायानसूत्रालंकार में तथागतगर्भ के आधार पर विकास लाभ किया। यह गति-विवृति या आश्रय परावृत्ति से योगतन्त्र में सिद्ध होता है।

དེ་ཡང་སྤྱགས་བཅུའི་སངས་རྒྱས་ཐམས་ཅད་ཀྱིས་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་དོན་ཐམས་ཅད་
 བྱབ་པ་ལ་ཅད་པན་གྱིས་དབང་བསྐྱར་བའི་ཆེས་ལ་ཅོན་པའི་བུ་ཉི་ཤེས་ཀྱི་འཛིན་ཞེས་པའི་སྤྱགས་ཀྱི་དོན་སྒྲོམ་དུ་
 བཅུག་སྟེ། དེས་ཀྱང་བསྒྲོམས་པས་མཉམ་གཞག་དུ་རང་གི་སེམས་ཀྱི་ཆོས་ཉིད་སྟོང་པ་ཉིད་བཅུ་དྲུག་
 རང་བཞིན་རྣམ་དག་མངོན་སུམ་དུ་རྟོགས་ཤིང་། དེ་ལས་ལངས་པའི་ཆེས་ཐོབ་དུ་རང་གི་སེམས་ཀྱི་
 ཆོས་ཉིད་རང་བཞིན་རྣམ་དག་དེ་རང་གི་སྟོང་གར་རྒྱ་བའི་དགྱིལ་ལའོར་གྱི་རྣམ་པར་མངོན་སུམ་དུ་
 མཐོང་ངོ་།།

དེ་ནི་མེ་ལོང་ལྷ་བུའི་ཡེ་ཤེས་མི་བསྐྱེད་པའི་ངོ་བོ་བརྟེན་ཤིང་། མངོན་བྱང་འདིའི་མིང་ནི་སོ་
 སོར་རྟོག་པ་ལས་མངོན་པར་བྱང་ཆུབ་པ་ཞེས་བྱའོ།།

དེ་ཆེས་འཕྲུག་གདུལ་བུའི་ཉམས་ལེན་གྱི་རིམ་པ་ལ་སྦྱར་ན། ཅོན་པའི་བུ་ཉི་ཤེས་ཀྱི་འཛིན་ཞེས་
 བཅོད་ནས་རང་གི་སེམས་ཀྱི་ཆོས་ཉིད་སྟོང་པ་ཉིད་བཅུ་དྲུག་རང་བཞིན་རྣམ་དག་མཆོན་པའི་ཀླ་ལི་
 བཅུ་དྲུག་ཡོངས་སུ་གྱུར་པ་ལས། རང་གི་སྟོང་གར་རྒྱ་བའི་དགྱིལ་ལའོར་གྱི་རྣམ་པར་བསྒྲོམ་མོ།།

དེའི་ཆེས་ལ་སྤྱགས་བཅུའི་སངས་རྒྱས་ཐམས་ཅད་ཀྱིས་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་དོན་ཐམས་
 ཅད་བྱབ་པ་ལ་ཨྱོ་བོདྱི་ཅོན་པའི་བུ་ཉི་ཤེས་ཀྱི་འཛིན་ཞེས་པའི་སྤྱགས་ཀྱི་དོན་སྒྲོམ་དུ་བཅུག་སྟེ། དེས་ཀྱང་བསྒྲོམས་
 པས་མཉམ་གཞག་དུ་རང་གི་སེམས་ཀྱི་ཆོས་ཉིད་སྟོང་པ་ཉིད་སྟོང་བྱར་བྱི་བུལ་ཐོབ་སུམ་དུ་རྟོགས་
 ཤིང་། ཆེས་ཐོབ་དུ་རང་གི་སེམས་ཀྱི་ཆོས་ཉིད་སྟོང་པ་ཉིད་སྟོང་བྱར་བྱི་བུལ་དེ་ཉིད་རང་གི་སྟོང་གར་རྒྱ་
 བའི་དགྱིལ་ལའོར་ཡོངས་སུ་རྟོགས་པའི་རྣམ་པར་མངོན་སུམ་དུ་མཐོང་ངོ་།།

དེས་ནི་མཉམ་པ་ཉིད་ཀྱི་ཡེ་ཤེས་རིན་འབྱུང་གི་ངོ་བོ་བརྟེན་ཤིང་། མངོན་བྱང་དེའི་མིང་ནི་
 བྱང་ཆུབ་མཆོག་དུ་སེམས་བསྐྱེད་པ་ལས་མངོན་པར་བྱང་ཆུབ་པ་ཞེས་བྱའོ།།

དེ་ཆེས་འཕྲུག་གདུལ་བུའི་ཉམས་ལེན་གྱི་རིམ་པ་ལ་སྦྱར་ན། ཨྱོ་བོདྱི་ཅོན་པའི་བུ་ཉི་ཤེས་
 བཅོད་ནས་རང་གི་སེམས་ཀྱི་ཆོས་ཉིད་སྟོང་པ་ཉིད་སྟོང་བྱར་བྱི་བུལ་དེ་མཆོན་པའི་ཀླ་ལི་ཡོངས་སུ་གྱུར་
 པ་ལས། རང་གི་སྟོང་གར་རྒྱ་བའི་དགྱིལ་ལའོར་ཡོངས་སུ་རྟོགས་པའི་རྣམ་པར་བསྒྲོམ་མོ།།

དེའི་མེས་ལ་སངས་རྒྱས་ཐམས་ཅད་ཀྱིས་ཏིཏྲ་བཙྰ་ཞེས་པའི་ཐུགས་ཀྱི་དོན་བསྟོམ་དུ་བཅུག་
ནས་བསྟོམས་པས། སྤར་གྱི་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སེམས་ཀྱན་དུ་བཟང་པོ་དེ་ཉིད་རང་གི་སྤྲིང་གར་ཆུ་བའི་
དཀྱིལ་འཁོར་གྱི་སྤྲིང་དུ་དོ་མེ་དཀར་པོ་ཅེ་ལྷ་པ་གྲེན་དུ་འགྲོང་བའི་ནམ་པར་མངོན་སུམ་དུ་མཐོང་ངོ་།

དེས་ནི་སོ་སོར་རྟོག་པའི་ཡེ་ཤེས་འོད་དཔག་མེད་ཀྱི་ངོ་བོ་བརྟེན་ཤིང་། མངོན་བྱང་དེའི་
མིང་ནི་བཏན་པའི་དོ་མེ་ལས་མངོན་པར་བྱང་ཆུབ་པ་ཞེས་བྱའོ། དེ་མེས་འཕྱག་གདུལ་བྱའི་ཉམས་ལེན་
གྱི་རིམ་པ་ལ་སྤར་ན། ཏིཏྲ་བཙྰ་ཞེས་བཟྱེད་ནས་རང་གི་སྤྲིང་གར་དོ་མེ་དཀར་པོ་ཅེ་ལྷ་པ་བསྟོམ་མོ།

འདིར་དང་པོའི་དོ་མེ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་བཟྱེད་པར་བྱ་སྟེ། དང་པོ་ནི་ཐོག་མའི་དོན་ཡིན་ལ།
ཐོག་མའི་དོན་ཡང་སྤར་སངས་མ་རྒྱས་པ་གསུམ་དུ་འཁོང་རྒྱ་བ་ལ་མངོན་བྱང་ལྷ་རིམ་ཅན་དུ་སྟོམ་
པའི་ཆོ། རང་གི་སྤྲིང་གར་མཐོང་བའི་དོ་མེ་དཀར་པོ་ཅེ་ལྷ་པ་དེ་ལ་དང་པོའི་དོ་མེ་ཞེས་བྱའོ། དེ་ཅེ་ལྷ་
པར་ངེས་པའི་རྒྱ་མཚན་གང་ཞེ་ན། འཁོང་རྒྱ་བའི་ཆེ་མངོན་བྱང་ལྷ་རིམ་ཅན་དུ་བསྟོམས་པའི་མངོན་
བྱང་རེ་རེས་ཡེ་ཤེས་ལྷ་རེ་རེ་མངོན་དུ་གྱུར་པ་དེ་མཚན་པའི་བྱིར་ཅེ་ལྷ་པའོ།

དེ་ནས་སྤྱོགས་བཅུའི་སངས་རྒྱས་ཐམས་ཅད་ཀྱིས་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔལ་དོན་ཐམས་ཅད་
གྲུབ་པ་ལ་མིང་གི་དབང་བསྐྱར་ཏེ། དོན་ཐམས་ཅད་གྲུབ་པ་ཞེས་བྱ་བའི་མིང་དེ་བཟྱེས་ནས། བྱང་ཆུབ་
སེམས་དཔལ་དོ་མེ་དབྱིངས་ཞེས་བྱ་བར་བཏགས་མོ།

དེ་ནས་བཙྰ་ཏྲུ་ཀོ་ཉུ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐུགས་ཀྱི་དོན་བསྟོམ་དུ་བཅུག་ནས་བསྟོམས་པས།
སྤྱོགས་བཅུའི་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་སྤྲིང་དོ་མེའི་དབྱིངས། གསུང་དོ་མེའི་དབྱིངས།
ཐུགས་དོ་མེའི་དབྱིངས་ཐམས་ཅད་རང་གི་སྤྲིང་གའི་དོ་མེ་དཀར་པོ་ཅེ་ལྷ་པ་དེ་ལ་མངོན་སུམ་དུ་ཞུགས་
ཏེ། དོ་མེ་དེ་ཉིད་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་དོ་མེའི་དུལ་ལྷ་རབ་ལས་བསྐྱབས་པར་མངོན་སུམ་
དུ་མཐོང་ངོ་།

དེས་ནི་བྱ་བ་སྐྱབ་པའི་ཡེ་ཤེས་དོན་ཡོད་སྐྱབ་པའི་ངོ་བོ་བརྟེན་ཤིང་། མངོན་བྱང་དེའི་མིང་ནི་
དོ་མེའི་བདག་ཉིད་ལས་མངོན་པར་བྱང་ཆུབ་པ་ཞེས་བྱའོ།

དེ་མེས་འཕྲུག་གདུལ་བྱའི་ཉམས་ལེན་གྱི་རིམ་པ་ལ་སྦྱར་ན། བཛྲ་ཨྲུག་ཀོ་ཉུ་ཞེས་བཛྲ་
ནས་རང་གི་སྙིང་གའི་དྲོ་མེད་ཀྱི་ཕྱི་ལ་ལྷ་པ་དེ་ལས་འོད་ཟེར་སྤྲོགས་བཅུར་འཕྲོས་པས་དེ་བཞིན་
གཤེགས་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་སྦྱོར་དྲོ་མེད་དབྱིངས། གསུང་དྲོ་མེད་དབྱིངས། ཐུགས་དྲོ་མེད་དབྱིངས་ཐམས་
ཅད་རང་གི་སྙིང་གའི་དྲོ་མེད་ཀྱི་ཕྱི་ལ་ལྷ་པ་ལ་ཞུགས་པར་བསྐྱོམ་མོ།

དེ་ནས་སྤྲོགས་བཅུའི་སངས་རྒྱུས་ཐམས་ཅད་ཀྱིས་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་དྲོ་མེད་དབྱིངས་དེ་
ལ་ཨོ་ཡ་ཐུས་པ་ཏ་ཐུག་ཏུ་སྦྱར་ཉུ་ཞེས་བྱ་བའི་སྤྲོགས་ཀྱི་དོན་བསྐྱོམ་དུ་བཅུག་ནས་བསྐྱོམས་པས། རང་གི་
སྙིང་གའི་དྲོ་མེད་སྦྱོར་བ་ཡོངས་སུ་གྱུར་ནས་མཆན་བཟང་པོ་སྦྱར་ཅུ་ཙ་གཉིས་དང་། དཔེ་བྱད་བཟང་པོ་
བརྒྱད་ཅུས་བརྒྱན་པའི་འོངས་སྤྱོད་ཚོགས་སྦྱར་ནས་པར་སྦྱང་མཛད་ཆེན་པོར་མངོན་སུམ་དུ་གྱུར་ཏེ་
མངོན་པར་ཚོགས་པར་སངས་རྒྱུས་སོ།

དེས་ནི་ཆོས་ཀྱི་དབྱིངས་ཀྱི་ཡེ་ཤེས་རྣམ་པར་སྦྱང་མཛད་ཀྱི་ངོ་བོ་བརྟེན་ཤིང་། མངོན་བྱང་
དེའི་མིང་ནི་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་མཉམ་པ་ཉིད་ལས་མངོན་པར་བྱང་ཆུབ་པ་ཞེས་བྱའོ།

དེ་མེས་འཕྲུག་གདུལ་བྱའི་ཉམས་ལེན་གྱི་རིམ་པ་ལ་སྦྱར་ན། ཨོ་ཡ་ཐུས་པ་ཏ་ཐུག་ཏུ་སྦྱར་ཉུ་
ཞེས་བཛྲ་པས་རང་གི་སྙིང་གའི་དྲོ་མེད་སྦྱོར་བ་དང་བཅས་པ་ཡོངས་སུ་གྱུར་ནས། རྣམ་པར་སྦྱང་མཛད་
ཆེན་པོའི་སྦྱར་འབྱུར་བར་བསྐྱོམ་མོ། ॥

चतुर्थधर्मोद्दानसूत्र : संक्षिप्त परिचय

— जलछेन नमडोल —

[भोटदेशीय काग्युर (बुद्धवचन) संग्रह में “आर्यसागरनागराजपरिपृच्छा नाम” से विस्तृत, मध्यम और संक्षिप्त—इस प्रकार तीन सूत्र उपलब्ध होते हैं। इन तीनों में से प्रस्तुत सूत्र अन्तिम या संक्षिप्त सूत्र है। इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य (अभिधेय) बौद्ध परम्परा में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण वे चार धर्मोद्दान या धर्ममुद्रा (धर्मसीमा) हैं, जिनका उल्लंघन किसी बौद्ध निकाय के लिए सम्भव नहीं है। अर्थात् इन चार मुद्राओं (मर्यादाओं) का अतिक्रमण करने पर वह निकाय ‘बौद्ध’ कहलाने का अधिकारी नहीं रहेगा। यह सूत्र इस विषय (धर्मोद्दान) का प्रमुखतः प्रतिपादन करनेवाला एक स्वतन्त्र सूत्र है। आकार में यह ग्रन्थ चाहे अत्यन्त लघु हो, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से परम उपादेय है। यहाँ इस सूत्र को मूल भोट-पाठ के साथ संस्कृत में पुनरुद्धार एवं हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत किया गया है।]

चार धर्मोद्दान सूत्र

(ལྷ་བ་བཀར་བདག་གི་ཡུག་རྒྱ་བཞི་བསྟན་པའི་མདོ།)

(क) मूल भोट-पाठ

༡། །རྒྱ་བཀར་སྐད་དུ། །ཡུལ་གྲུབ་རྒྱ་བཀར་པའི་ཡུལ་གྲུབ་པའི་སྐད་དུ།
འཕགས་པ་ལྷ་བཀར་སྐད་པོ་རྒྱ་མཆོས་ཞུས་པ་ཞེས་བྱ་བ་ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་མདོ། སངས་རྒྱུ་དང་བྱང་
ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཐམས་ཅད་ལ་ཡུག་འཆལ་ལོ། །འདི་སྐད་བདག་གིས་ཐོས་པ་དུས་གཅིག་ན།
བཙུན་ལྷ་མ་འདས་ལྷ་བཀར་སྐད་པོ་རྒྱ་མཆོས་གནས་ན། དག་སྟོང་སྟོང་ཉིས་བརྒྱ་བཅུ་དག་སྟོང་གི་
དག་འདུན་ཆེན་པོ་དང་། བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་སེམས་དཔའ་ཆེན་པོ་རབ་ཏུ་མང་པོ་དང་ཐབས་
ཅིག་ཏུ་བཞུགས་ཏེ། དེ་ནས་བཙུན་ལྷ་མ་འདས་ཀྱིས་ལྷ་བཀར་སྐད་པོ་རྒྱ་མཆོས་ལ་བཀའ་ལྷུ་པ། ལྷ་བཀར་
བདག་པོ། ཆོས་ཀྱི་མདོ་བཞི་པོ་འདི་དག་བཅོད་ན་གང་དག་བཅོད་པས་ཆོས་ཀྱི་ཡུང་པོ་བརྒྱད་ཁྲི་
བཞི་སྟོང་བཅོད་པར་འགྱུར་བ་ནམས་ཡིན་ནོ། །བཞི་གང་ཞེ་ན། འདི་ལྷ་སྟེ། འདུ་བྱེད་ཐམས་ཅད་མི་

དྲག་པར་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་སེམས་དཔའ་ཆེན་པོ་རྣམས་ཀྱི་¹བསྟན་པ་མི་ཟད་པའི་ཤེས་པ་
 རབ་ཏུ་འཕྱག་པ་དང་། ཟག་པ་དང་བཅས་པའི་ཆོས་ཐམས་ཅད་སྤྱག་བསྟུལ་བར་བྱང་ཆུབ་སེམས་
 དཔའ་སེམས་དཔའ་ཆེན་པོ་རྣམས་ཀྱི་བསྟན་པ་མི་ཟད་པའི་ཤེས་པ་རབ་ཏུ་འཕྱག་པ་དང་། ཆོས་
 ཐམས་ཅད་ལ་བདག་མེད་པར་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་སེམས་དཔའ་ཆེན་པོ་རྣམས་ཀྱི་བསྟན་པ་མི་
 ཟད་པའི་ཤེས་པ་རབ་ཏུ་འཕྱག་པ་དང་། སྤངས་ལས་འདས་པ་ཞི་བར་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་
 སེམས་དཔའ་ཆེན་པོ་རྣམས་ཀྱི་བསྟན་པ་མི་ཟད་པའི་ཤེས་པ་རབ་ཏུ་འཕྱག་པ་སྟེ། སྤྱི་བདག་པོ།
 ཆོས་ཀྱི་མདོ་བཞི་པོ་འདི་དག་བཅོད་ན་གང་དག་བཅོད་པས་ཆོས་ཀྱི་ཕྱང་པོ་བརྒྱད་བྲི་བཞི་སྟོང་
 བཅོད་པར་འགྱུར་བ་རྣམས་ཡིན་ནོ། །བཙམ་ལྷན་འདས་ཀྱིས་དེ་སྟོང་ཅེས་བཀའ་སྩལ་ནས། དགེ་
 སྟོང་དེ་དག་དང་། བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་དེ་དག་ཡི་རངས་ཏེ། བཙམ་ལྷན་འདས་ཀྱིས་གསུངས་པ་
 ལ་མངོན་པར་བསྟོན་དོ། །ཁམས་པ་སྤྱི་བྱུང་པོ་ཀྱི་མཆོས་ཞུས་པ་ཞེས་བྱ་བ་ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་
 མདོ་²ཐོག་སོ། །

ཀྱི་གར་གྱི་མཁན་པོ་སུ་རུ་བོདྱི་དང་། ཞུ་ཆེན་གྱི་ལོ་རྒྱུ་བ་བརྗེ་ཡེ་ཤེས་སྤྲུལ་ཅིང་
 ཞུས་ཏེ་གཏན་ལ་པབ་པའོ། །

- 1 མདོ་ཆོག་འདིའི་ཐད་གཞུང་འདིའི་སྤར་མ་རྣམས་སུ་‘འབྲེལ་སྒྲ་ཅན་’ཏུ་བཀོད་ཡོད་པ་ལྟར། མདོ་འདི་དང་ཆོག་སྟོར་
 མཐུན་པ་འཕགས་པ་སྟོ་གྲོས་མི་ཟད་པས་བསྟན་པའི་མདོར་ཡང་དེ་བཞིན་བཀོད་ཡོད། འོན་ཀྱང་མདོ་བྱི་མ་འདི་ལ་
 མཁས་མཆོག་དབྱིག་གཉེན་གྱི་ཀྱི་ཆེར་འབྲེལ་ཡོད་པ་ལྟར་དེ་‘བྱེད་སྒྲ་ཅན་’ཏུ་བཀོད་ཅིང་འབྲེལ་བར་མཛད་ཡོད་
 པས། དེ་ཞིག་འདིར་ཡང་དེ་དང་མཐུན་པར་པབ་བསྟུར་བྱས་ཡོད། འོན་ཀྱང་ཀྱི་གཞུང་ལུགས་བརྒྱ་བསྟན་ཏུ་བཅོད་
 པ་ལྟར་དགོངས་པ་འབྲེལ་ཚུལ་ཇི་སྟེད་ཅིག་འབྱུང་ཆོག་པས་ཞིབ་ཏུ་དབྱད་པར་བྱའོ།
- 2 ཆོས་ཀྱི་སྒྲ་མ་བཞི་བསྟན་པའི་མདོ་འདི་ནི། བཀའ་འགྱུར་ཁག་ནང་གོང་གསལ་ལྟར་གྱི་མདོ་མཆན་དེ་འདྲ་བ་རྒྱས་
 འབྲིང་བསྟུས་གསུམ་བཞུགས་པ་ལས་བསྟུས་པ་དེ་ཡིན་ནོ།

चतुर्थमोद्दानसूत्रम्

(ख) संस्कृते पुनरुद्धतम्

भारतीयभाषायाम्—आर्यसागरनागराजपरिपृच्छा नाम महायानसूत्रम् ।

भोटभाषायाम्—फग्-पा-क्लु-यि-ग्यल-पो-ग्य-छोस्-युस्या-येस्-

जा-वा-थेक्-पा-छेन्-पोई-म्दो ।

नमः सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः ।

एवं मया श्रुतम्—एकस्मिन् समये भगवान् बुद्धः सागरनागराजावसथे विहरति स्म सार्द्धं सार्धद्वादशशतभिक्षूणां महासंघेन बहुभिश्च बोधिसत्त्वमहासत्त्वैः । तस्मिन् समये भगवान् बुद्धः सागरनागराजमवोचत्—नागाधिपते, चतुर्णां धर्मोद्दानानामभिधाने क्रियमाणे तदभिधानेन चतुरशीतिधर्मस्कन्धसहस्राणामभिधानं कृतं भवति । कतमानि चत्वारि? तथाहि—

सर्वेषां संस्काराणाम् अनित्यतायां बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैर्निर्दिष्टमक्षयज्ञानं प्रवर्तते ।

सर्वेषां सास्त्रवाणां धर्माणां दुःखतायां बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैर्निर्दिष्टमक्षयज्ञानं प्रवर्तते ।

सर्वेषां धर्माणाम् अनात्मतायां बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैर्निर्दिष्टमक्षयज्ञानं प्रवर्तते ।

निर्वाणस्य शान्ततायां बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैर्निर्दिष्टमक्षयज्ञानं प्रवर्तते ।

नागाधिपते, एतेषां चतुर्णां धर्मोद्दानानामभिधाने क्रियमाणे तदभिधानेन चतुरशीति-धर्मस्कन्धसहस्राणामभिधानं कृतं भवति ।

इदमवोचत् भगवान् । आत्तमनसो भिक्षवः सर्वे च बोधिसत्त्वा भगवतो भाषितमभ्यनन्दन्ति ।

॥ आर्यसागरनागराजपरिपृच्छानाम महायानसूत्रं समाप्तम् ॥

भारतीयोपाध्यायेन सुरेन्द्रबोधिना महालोचावा-वन्देज्ञानसेनेन चेदमनूदितं व्यवस्थापितं च ।

॥ भवतु सर्वमङ्गलम् ॥

चार धर्मोद्धान सूत्र

(ग) हिन्दी भाषानुवाद

भारतीय भाषा में—आर्यसागरनागराजपरिपृच्छा नामक महायानसूत्र
भोट भाषा में—फग्-पा-क्लु-यि-ग्यल-पो-ग्य-छोस्-युस्या-येस्-
जा-वा-थेक्-पा-छेन्-पोई-म्दो

सभी बुद्ध और बोधिसत्त्वों को नमस्कार।

ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान् बुद्ध सागर नागराज के स्थान में एक हजार दो सौ पचास भिक्षुओं के महासंघ तथा अनेक बोधिसत्त्व-महासत्त्वों के साथ ठहरे हुए थे। उस समय भगवान् बुद्ध ने सागरनागराज को कहा—नागाधिपते! चार धर्म उद्धान (धर्म की मुद्रा) हैं, इन चारों का अभिधान किया जाए तो उनके अभिधान से चौरासी हजार धर्मस्कन्धों का अभिधान हो जाता है। वे चार क्या हैं? तद्यथा—

सभी संस्कारों की अनित्यता में बोधिसत्त्व-महासत्त्वों के द्वारा निर्दिष्ट अक्षय ज्ञान प्रवृत्त होता है।

सभी सास्रव धर्मों की दुःखता में बोधिसत्त्व-महासत्त्वों के द्वारा निर्दिष्ट अक्षय ज्ञान प्रवृत्त होता है।

सभी धर्मों की अनात्मता में बोधिसत्त्व-महासत्त्वों के द्वारा निर्दिष्ट अक्षय ज्ञान प्रवृत्त होता है।

निर्वाण की शान्तता में बोधिसत्त्व-महासत्त्वों के द्वारा निर्दिष्ट अक्षय ज्ञान प्रवृत्त होता है।

नागाधिपते! इन चार धर्मोद्धानों का अभिधान किया जाए तो उनके अभिधान से चौरासी हजार धर्मस्कन्धों का अभिधान (परिपूर्ण) हो जाता है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध के द्वारा कहने पर भिक्षुओं और बोधिसत्त्वों सभी ने प्रसन्नचित्त होकर भगवान् द्वारा (उपदिष्ट) प्रवचन का अभिनन्दन किया।

आर्यसागरनागराजपरिपृच्छा नामक महायानसूत्र समाप्त।

यह भारतीय उपाध्याय सुरेन्द्रबोधि एवं महालोचावा वन्दे ज्ञानसेन द्वारा अनूदित एवं व्यवस्थापित किया गया।

॥ भवतु सर्वमङ्गलम् ॥

संक्षिप्त परिचय

आर्यसागरनागराजपरिपृच्छा नाम से विस्तृत, मध्यम और संक्षिप्त—तीन सूत्र उपलब्ध होते हैं। इनमें से प्रस्तुत ग्रन्थ संक्षिप्त सूत्र है। यह सूत्र बौद्ध परम्परा में सुप्रसिद्ध एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चार धर्मोद्दान या धर्ममुद्रा को प्रतिपादन करने वाला एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। आकार में यह ग्रन्थ चाहे अत्यन्त लघु हो, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से परम उपादेय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ आर्यसागरनागराजपरिपृच्छा की भाँति आर्य-अक्षयमतिनिर्देशसूत्र¹ में भी इन चार धर्मोद्दानों का प्रतिपादन उपलब्ध होता है, किन्तु मुख्य विषय के प्रतिपादन-शैली में इन दोनों सूत्रों में कुछ भी अन्तर नहीं है। अतः दोनों सूत्रों के भोट संस्करणों में 'बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैः' (बोधिसत्त्व-महासत्त्वों के द्वारा) के स्थान पर 'बोधिसत्त्वानां महासत्त्वानां' (बोधिसत्त्व-महासत्त्वों का) इस प्रकार षष्ठी विभक्त्यन्त पाठ उपलब्ध होता है।

ज्ञातव्य है कि आर्य-अक्षयमतिनिर्देशसूत्र की महान् आचार्य वसुबन्धु विरचित एक टीका² उपलब्ध है, उसमें षष्ठी विभक्ति के स्थान पर तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है और उससे सूत्र के अर्थ को हृदयङ्गम करने में एक दृष्टि से सुविधा होती है। अतः सम्प्रति यहाँ उसी (टीका) का अनुसरण किया गया है। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट वचनों के अनुसार बोधिसत्त्व महासत्त्वों के द्वारा चार धर्मोद्दानों का निर्देश किया गया है, जिससे विनेय जनों की चित्तसन्तति में धर्म के गम्भीर और उदार विषय के प्रति अक्षय ज्ञान प्रवृत्त होने लगता है। वैसे तो यह सूत्र मूलशास्त्र की कोटि में आता है और 'मूलशास्त्र महार्थ होते हैं' अर्थात् मूलशास्त्र शत-शत अर्थ के प्रतिपादक होते हैं, इस वचन के अनुसार इस सूत्र के अनेक अर्थ लिये जा सकते हैं।

सामान्यतया चार धर्मोद्दानों के विषय में मूल बुद्धवचनों (सूत्रों) में एवं उनसे सम्बद्ध गम्भीरसन्धिनिर्मोचन (कठिन ग्रन्थि स्थलों को खोलने वाले) टीका-ग्रन्थों में अथवा अभिप्रायप्रकाशक टीका-ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। उनमें से कुछ प्रमुख सूत्रों और शास्त्रों में उक्त विषय का जिस प्रकार प्रतिपादन किया गया है, उस पर संक्षेप में यहाँ प्रकाश डाला जाएगा।

1. 175 - सूत्र - 'म' पृ० 168, (स्दे-दगे संस्करण)।

2. 3994 - सूत्रवृत्ति - 'चि' पृ० 260 (स्दे-दगे संस्करण)।

आर्य तथागताचिन्त्यगुह्यनिर्देशसूत्र¹ में कहा गया है—“गुह्याधिपति, इन चार धर्मोद्धानों में तथागत द्वारा उपदिष्ट समस्त धर्मों को संक्षेप में अन्तर्निविष्ट किया गया है। वे चार कौन हैं? वे श्रमण और ब्राह्मण, जो धर्मों की नित्यता में (नित्य धर्मों की सत्ता में) अभिनिविष्ट हैं और दीर्घायुष्क देव, जो नित्य संज्ञा करते हैं, उनके (उस नित्याभिनिवेश का) प्रहाण करने के लिए ‘सभी संस्कार अनित्य हैं’ (यह प्रथम धर्मोद्धान है)। देव और मनुष्य (सास्त्रव धर्मों में) सुख संज्ञा करते हैं, उस (सुख-संज्ञा) के प्रहाण के लिए ‘संस्कार (धर्म) दुःख हैं’ (यह द्वितीय धर्मोद्धान है)। तैर्थिक (बौद्धेतर दार्शनिक) लोग आत्मसंज्ञा में अभिनिविष्ट हैं। उन आत्मवादियों की (आत्मसंज्ञा के) प्रहाण के लिए ‘सभी धर्म अनात्म हैं’ (यह तृतीय धर्मोद्धान है) तथा विकल्पावचर (विकल्पों में विचरण करने वाले) आभिमानिकों के (मिथ्या-)अभिमान का प्रहाण करने के लिए ‘निर्वाण शान्त है’ (यह चतुर्थ धर्मोद्धान उपदिष्ट है)।” इत्यादि कहकर उक्त चार विपरीत (मिथ्या)दृष्टियों के प्रतिपक्ष के रूप में चार धर्मोद्धानों का उपदेश किया गया है। इसी की भाँति रत्नकूट में संगृहीत ‘आर्यबोधिसत्त्वपिटक²’ नामक सूत्र में भी कहा गया है।

यद्यपि समस्त बौद्ध धर्म को अतिसंक्षिप्त रूप में प्रतिपादन के अनेक माध्यम या अनेक प्रकार विद्यमान हैं, फिर भी यह (चार धर्मोद्धानों द्वारा) संक्षिप्त प्रतिपादन अपने में अन्यतम और अद्भुत है। क्योंकि इसमें न केवल बौद्ध धर्म और बौद्धेतर धर्म की मर्यादा (सीमा) का निर्धारण किया गया है, अपितु समस्त बौद्ध धर्म की सर्वथा अनुल्लंघनीय मुद्राओं की सुदृढ़ और समुचित व्यवस्था की गई है।

उक्त सूत्रों के अतिरिक्त (1) आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र (सू० ‘च’ पृ० 51), (2) विनयक्षुद्रकवस्तु (वि० ‘द’ पृ० 193), (3) आर्यतथागतमहाकरुणानिर्देशसूत्र (सू० ‘प’ पृ० 234), (4) आर्यसर्वधर्म-अप्रवृत्तिनिर्देशसूत्र (सू० ‘म’ पृ० 273) आदि अनेक सूत्रों में इस महत्त्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन किया गया है।

इन सूत्रों में धर्मोद्धानों के प्रतिपादन के ढंग में भी मौलिक अन्तर दिखलाई पड़ता है। उदाहरणार्थ अनेक सूत्रों में द्वितीय धर्मोद्धान ‘सभी सास्त्रव धर्मों की दुःखता’ के स्थान पर ‘सभी संस्कारों की दुःखता’ का प्रयोग किया गया है। इसी तरह दूसरे कुछ सूत्रों में कहीं द्वितीय और कहीं चतुर्थ धर्मोद्धान उल्लिखित ही नहीं है, अपितु अवशिष्ट तीन

1. 47- रत्नकूट - ‘क’ पृ० 180 (स्दे-द्वे संस्करण)।

2. 56 - रत्नकूट - ‘ख’ पृ० 287 (स्दे-द्वे संस्करण)।

धर्मोद्दान ही उपलब्ध होते हैं। ठीक यही स्थिति उन सूत्रों से सम्बद्ध शास्त्रों (टीका-ग्रन्थों) की भी है।

यह विषय (अर्थात् चार धर्मोद्दानों का निरूपण) अनेक शास्त्रों में भी उपलब्ध होता है, यथा—आर्य मातृचेत विरचित 'वर्णार्हवर्णबुद्धस्तोत्र'¹ में कहा गया है—

सर्वधर्मा अनात्मानः क्षणिकं सर्वसंस्कृतम् ।

शान्तं निर्वाणमित्येषा धर्ममुद्रा त्रिलक्षणा ॥ १॥

[अर्थात् सभी धर्म अनात्म हैं, सभी संस्कृत क्षणिक हैं, निर्वाण शान्त है—यह धर्ममुद्रा तीन लक्षणों वाली है]

आचार्य शाक्यप्रभ विरचित 'आर्य-मूलसर्वास्तिवादश्रामणेरकारिकावृत्ति-प्रभावती'² में भी उल्लिखित है कि "त्रिमुद्रा से समन्वित होना, त्रिशिक्षा का सम्यक् प्रतिपादन होना तथा आदि, मध्य और अन्त में कल्याणकारी होना ही बुद्धवचन के रूप में विद्वानों द्वारा मान्य है।"

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में तीन ही धर्ममुद्राओं का उल्लेख है, साथ ही धर्मोद्दान के स्थान पर 'धर्ममुद्रा' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसीलिए भोटदेशीय विद्वत्समुदाय में यह 'धर्ममुद्रा' शब्द ही अधिक प्रचलित है। इन विद्वानों के अनुकरण से ही सम्भवतः ऐसा प्रचलन हुआ होगा।

आर्यमैत्रेयनाथ विरचित महायानसूत्रालङ्कार में कहा गया है—

समाध्युपनिषत्त्वेन धर्मोद्दानचतुष्टयम् ।

देशितं बोधिसत्त्वेभ्यः सत्त्वानां हितकाम्यया ।³

[समाधि के उपनिषद्भाव (निमित्तभाव) की वजह से सत्त्वों के हित की इच्छा से भगवान् बुद्ध ने बोधिसत्त्वों को चार प्रकार के धर्मोद्दानों की देशना की है।] अर्थात् अप्रणिहित समाधि, शून्यतासमाधि एवं अनिमित्त समाधि के निमित्त से अर्थात् तीन विमोक्षद्वारों के निमित्त से चार धर्मोद्दानों का प्रतिपादन किया है।

इनके अतिरिक्त अनेक शास्त्रों में भी इन चार धर्मोद्दानों की चर्चा उपलब्ध होती है। (१) आर्य असङ्ग विरचित महायानसूत्रालङ्कारटीका (चित्तमात्रता 'फि', पृ० 231), (२) उस वृत्ति (टीका) पर आचार्य स्थिरमति रचित भाष्य (चि० 'चि' पृ० 131),

1. अविवादस्तव, परि-6, धीः पत्रिका-23, पृ० 5 ।

2. 4125- विनय 'शु', पृ० 161 (स्दे-द्गे संस्करण) ।

3. द्र०-महायानसूत्रालङ्कार, 18, बोधिपक्षाधिकार, पृ० 143

- (3) आचार्य निःस्वभाव विरचित (महा० सूत्रा० की) टीका (चि० 'वि' पृ० 151),
 (4) आचार्य ज्ञानश्री कृत (उस महा० सूत्रा० का) पिण्डार्थ (चि० 'वि' पृ० 188),
 (5) आचार्य वसुबन्धु विरचित आर्याक्षयमतिनिर्देशसूत्रटीका (सूत्रवृत्ति 'चि०' पृ० 260),
 (6) आचार्य वेनछेग विरचित आर्यसन्धि गम्भीरनिर्मोचनसूत्र-टीका (सूत्र-वृत्ति 'दि' पृ० 139), (7) आचार्य शीलपालित कृत क्षुद्रकागम व्याख्या (विनय 'जु' पृ० 216),
 (8) आर्य असङ्ग प्रणीत बोधिसत्त्वभूमि (चि० 'वि' पृ० 146), (9) आचार्य सागरमेघ विरचित बोधिसत्त्वभूमिव्याख्या (चि० 'यि' पृ० 239), (10) आर्य असङ्ग प्रणीत योगाचारभूमि (चि० 'छि' पृ० 201), (11) आर्य असङ्ग प्रणीत अभिधर्मसमुच्चय (चि० 'रि' पृ० 102), (12) आचार्य जिनपुत्र कृत अभिधर्मसमुच्चय-व्याख्या (चि० 'लि' पृ० 235), (13) आचार्य जयानन्द कृत मध्यमकावतार-टीका (मध्यमक 'र' पृ० 115),
 (14) आचार्य नागार्जुन प्रणीत धर्मसंग्रह (तिब्बती संस्थान से प्रकाशित, पृ० 29) आदि।

इस विषय में भोट विद्वानों द्वारा विरचित अनेक टीकाएं तथा कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, किन्तु विस्तारभय से यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। बाद में इस विषय पर सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्र एवं उनकी वृत्तियों के आधार पर विस्तृत भूमिका के साथ एक पृथक् स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की हमारी योजना है।

इस सुप्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन करनेवाले प्रस्तुत सूत्र का संस्कृत में पुनरुद्धार एवं हिन्दी-अनुवाद कर पाना बौद्ध विद्याओं के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रो० रामशंकर त्रिपाठी (शोध-आचार्य) के अमूल्य सहयोग का प्रतिफल है। अतः मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इस परम पुनीत कार्य से प्राप्त समस्त पुण्यों की 'सभी सत्त्व इस गम्भीर और उदार अर्थ के सम्यग् ज्ञाता होकर सर्वज्ञता-प्राप्ति की ओर उन्मुख हों'—ऐसी परिणामना करता हूँ।

•

अहो बुद्धनयं दिव्यमहो बोधिनयोत्तमम् ।

अहो धर्मनयं शान्तमहो मन्त्रनयं दृढम् ॥

(गुह्यसमाजतन्त्रम्, पटल-13, पृ० 48)

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

वासुदेवाय नमः (सु० ३' २२)

तान्त्रिक अभिषेक का आचारशास्त्रीय पक्ष

—बनारसी लाल—

[बौद्ध एवं बौद्धेतर तन्त्र के दोनों धाराओं में तन्त्र में प्रवेश अर्थात् अध्ययन एवं साधना के लिए दीक्षा एवं अभिषेक आदि का विधान रहता है। दीक्षा या अभिषेक प्रदान करने से पूर्व कई करणीय एवं अकरणीय कार्यों के लिए प्रतिज्ञाएं दी जाती हैं। बौद्ध तन्त्रों की पारिभाषिक शब्दावली में इन्हें 'समय' या 'संवर' कहा जाता है। अभिषेक या दीक्षा के समय इन 'समय' एवं 'संवरो' को ग्रहण किया जाता है। यदि इन 'समय' एवं 'संवरो' का पालन नहीं कर पाये तो साधक को मूलापत्ति एवं स्थूलापत्तियों का दोष लगता है। प्रस्तुत निबन्ध में इन 'समय', 'संवर' एवं शीलों का पर्यालोचन आचार-शास्त्रीय दृष्टि से करने का प्रयास किया गया है।]

सामान्यतः तन्त्र एक गुह्य विद्या है। इसका दर्शनपक्ष सम्बद्ध दर्शन से जुड़ा होता है और साधना पद्धति इसकी अपनी विशेषता है। दर्शन एवं साधना का युगनद्ध रूप ही तन्त्र का स्वरूप है। इसका तत्त्व अनिर्वचनीय एवं वाक्पथातीत है। साधनागत विशेषताओं के कारण इसे प्रारम्भ से गुह्य विद्या माना गया है। इसी कारण यह रहस्यमय भी बन गयी। यह सर्वसाधारण एवं अनभिषिक्त के लिए अप्रकाश्य है। इसमें प्रवेश के लिये चाहे वह बौद्धतन्त्र हो या बौद्धेतर सभी में दीक्षा एवं अभिषेक का विधान रहता है। अभिषेक या दीक्षा के माध्यम से गुरु इस गुह्य ज्ञान परम्परा को शिष्य को प्रदान करता है। इस प्रक्रिया में गुरु शिष्य से अभिषेक या दीक्षा के पूर्व अनेक करणीय एवं अकरणीय कार्यों के लिए प्रतिज्ञाएं करवाता है। बौद्ध-तन्त्रों की अपनी पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'समय' या 'संवर' कहा जाता है। इन 'समय' एवं संवरो का पालन एवं सेवन न करने या इनसे च्युत होने पर मूलापत्ति एवं स्थूलापत्ति का दोष लगता है। इस प्रक्रिया में जिन करणीय एवं अकरणीय कर्मों, व्रतों एवं संवरो का उल्लेख है, इन पर आचार-शास्त्रीय पक्ष से विचार करें तो एक सुसभ्य समाज की नैतिक व्यवस्था के लिए यह अत्यन्त अनुकूल प्रतीत होते हैं। इसी दृष्टि से यहाँ इनका पर्यालोचन किया जा रहा है।

सामान्य रूप से बौद्ध जीवन साधना पद्धति के पालन कर्ताओं या विनयेयजनों की अनेक श्रेणियाँ हैं उनमें उपवसथ, उपासक, उपासिका, श्रामणे, श्रामणेरी, भिक्षु, भिक्षुणी एवं मन्त्रधर या दूसरे शब्दों में वज्रशिष्य हैं। इन सभी के अपने-अपने करणीय एवं

अकरणीय विधि विधान एवं कर्म हैं, जिन्हें संवर कहा जाता है। यह भी तीन प्रकार के हैं—प्रातिमोक्ष संवर, बोधिसत्त्व संवर और मन्त्र संवर।

बौद्ध जीवन साधना पद्धति के किसी भी प्रकार के विधि-विधान के प्रारम्भ में पंचशील ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है। पंचशील का पालन करना उपर्युक्त सभी अवस्थाओं के लिए आवश्यक है। इतना ही नहीं हर बौद्ध धर्मानुयायी के लिए भी इनका पालन करना अनिवार्य होता है। यदि इन्हें बौद्ध धर्म की परिधि में विचार न कर सामान्य रूप से मानवीय दृष्टि से भी विचार करें तो यह नैतिक जीवन के लिए अत्यन्त युक्तियुक्त तथा समाज व्यवस्था के लिए रीढ़ के समान हैं। प्राणिहत्या, मृषावाद, अदत्तादान (चोरी), काममिथ्याचार एवं मद्यपान, ये किसी भी स्वस्थ समाज के लिए अभिशाप के समान हैं। इनसे मुक्त होकर नैतिक आचरण द्वारा ही एक स्वस्थ एवं सभ्य समाज का निर्माण हो सकेगा। पंचशील ग्रहण कर इनसे विरति अर्थात् इन्हें न करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। जैसे पंचशील में से पहला शील है प्राणिहत्या न करना अर्थात् किसी भी प्रकार की हिंसा न करना चाहे वह कायिक हो, मानसिक हो या वाचिक। इस प्रकार पहली प्रतिज्ञा है हिंसा से विरति। दूसरी है मृषवाद से विरति अर्थात् झूठ न बोलना। सामान्य व्यावहारिक दृष्टि से भी समझा जा सकता है कि झूठ बोलना ठीक नहीं है, समाज के नैतिक नियमों के विपरीत है। तीसरा शील है बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण न करना अर्थात् चोरी से विरत रहने की प्रतिज्ञा। चोरी करना सामाजिक अपराध है। इससे समाज में अव्यवस्था फैलती है। इसे न करने की प्रतिज्ञा लेकर सुसभ्य समाज के निर्माण में योगदान कर सकते हैं। चौथा शील काममिथ्याचार से विरत रहने का है। समाज में व्यभिचार नहीं फैलाएंगे इसकी प्रतिज्ञा दिला दी जाती है। पति-पत्नी के अतिरिक्त अन्य से काममिथ्याचार समाज में अवैध सम्बन्धों में गिना जाता है। काममिथ्याचार से समाज में पापाचार ही बढ़ता है और समाज का नैतिक रूप से पतन होता है। इससे विरत रहने की प्रतिज्ञा लेकर एक स्वस्थ समाज के निर्माण का आधार तैयार होता है। पाँचवां शील सुरा, मेरैय, मद्य एवं प्रमाद स्थानों से विरत रहने का है। नशे का सेवन करना समाज में किसी भी सूरत में हितकर नहीं है। आज सर्वत्र नशाबन्दी का प्रचार किया जा रहा है, क्योंकि नशा हर बुराई की जड़ है। चाहे वह सुरा, मद्य हो या धूम्रपान या अन्य किसी दूसरे प्रकार का नशा। यह समाज को नैतिक रूप से खोखला कर देता है। नशे का आदी होने पर व्यक्ति हर प्रकार के पाप कर्म को करने के लिए प्रवृत्त होता है। इतना ही नहीं इस शील के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के

प्रमाद स्थान से दूर रहने की प्रतिज्ञा भी ली जाती है। यतः प्रमाद स्थान के कारण अहंकार का भाव उत्पन्न होता है और अहंकार का यह भाव अनेक विध क्लेशों का जनक है। बौद्ध उपासक के लिए इन पाँचों शीलों का पालन करना अपरिहार्य है। इसलिए किसी भी प्रकार के अनुष्ठान से पूर्व या अभिषेक आदि प्रारम्भ करने से पूर्व गुरु विनेयजनों को पंचशील प्रदान करता है।

तन्त्र में आचार शास्त्रीय दृष्टि से दूसरा पक्ष गुरु एवं शिष्य के व्यवहार एवं आचरण का है। शिष्य को गुरु के समक्ष किस प्रकार व्यवहार या आचरण करना चाहिये और गुरु का भी आचरण कैसा हो इसका उल्लेख अनेक जगहों पर गुरु-शिष्य परीक्षा या आचार्य परीक्षा के नाम से मिलता है। क्योंकि एक सुसंस्कृत समाज के निर्माण में गुरु की भूमिका अहम् होती है, इसलिए गुरु को भी सद्गुरु होना चाहिए। इसके सम्बन्ध में सोऽहम् सन्देश में विस्तार से चर्चा की गई है।

कालचक्रतन्त्र में अभिषेक प्रदान करने से पूर्व २५ प्रकार के व्रतों का पालन करने की प्रतिज्ञा दिलायी जाती है। इन व्रतों के प्रदान करने से पूर्व बोधिचित्त का उत्पाद करना आवश्यक होता है। बौद्ध जीवन साधना पद्धति में बोधिचित्त एक प्रमुख घटक है जिसमें प्राणिमात्र के कल्याण की भावना निहित होती है, जो व्यक्ति को स्व की चिन्ता त्याग कर परार्थ अर्थात् पीड़ित सत्त्वों को दुःख से मुक्त कर बुद्धत्व या निर्वाण तक पहुँचाने की भावना उत्पन्न कराती है। आज के इस वैश्वीकरण एवं उपभोगतावादी संस्कृति में व्यक्ति जब केवल अपने बारे में चिन्तन करता है, ऐसी अवस्था में बोधिचित्त का पैदा होना मानव समाज को उस पतन की संस्कृति से उभार कर श्रेष्ठ मानवतावादी संस्कृति की ओर अग्रसर होने के लिए दिशा निर्देश करेगा। बोधिचित्त के उत्पाद के बाद ही किसी भी प्रकार के विधि-विधान का कार्य सम्पन्न होता है। सभी सत्त्वों के हितार्थ बुद्धत्व प्राप्त करूँगा, इस प्रकार का प्रणिधान चित्त उत्पन्न कर 25 प्रकार के व्रतों के पालन की प्रतिज्ञा ली जाती है।

ये 25 प्रकार के व्रत भी सुगठित एवं सुसभ्य समाज के लिए दिशा निर्देशक नीति के समान हैं। इनमें प्रथम पाँच व्रत हैं—हिंसा, असत्य भाषण, परस्त्रीगमन, परधन हरण तथा मद्यपान। इन्हें न करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। इनकी चर्चा पंचशील के अन्तर्गत की गई है। इन्हें महापाप भी कहा जाता है, क्योंकि ये मनुष्य के संसारचक्र में भ्रमण के लिए वज्रपाश के समान हैं। अतः इन्हें न करने की प्रतिज्ञा लेकर सत्त्वों को अनन्त संसारचक्र से

मुक्त होने का भी मार्ग प्रशस्त करना है। इसके अनन्तर पाँच उपपाप आते हैं। ये भी नैतिक समाज के विपरीत आचरण हैं। ये हैं—द्यूतक्रीडा अर्थात् जुआ खेलना, सावद्य भोजन अर्थात् समाज द्वारा निन्दित पदार्थों का भक्षण करना, धर्मग्रन्थों का भ्रष्ट वाचन करना, भूतधर्म जैसे वेदोक्त पितृकार्य और याग कार्य आदि करना और दैत्य धर्म अर्थात् म्लेच्छ धर्म का आचरण करना। ये सभी स्वस्थ समाज के विपरीत आचरण हैं जिनसे समाज में विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। अतः इन्हें न करने का व्रत ग्रहण किया जाता है। इसके पश्चात् पाँच हत्याओं के न करने का व्रत ग्रहण किया जाता है। यद्यपि ये भी पूर्वोक्त हिंसा के अन्तर्गत परिगणित हैं फिर भी ये पहली हिंसा से विशिष्ट हैं। प्रायः ये पंच आनन्तर्य कर्म के समान हैं। ये हैं गो हत्या, बाल हत्या, स्त्री हत्या, पुरुष हत्या और देव, गुरु, बुद्ध और बोधिसत्व की हत्या करना। इसका तात्पर्य प्रतिमा स्तूपादि का विध्वंस करना भी है। इनसे भी विरत रहने का व्रत लिया जाता है। इसके अनन्तर पाँच प्रकार के द्रोह न करने का व्रत ग्रहण किया जाता है। ये हैं अपने मित्र के प्रति द्रोह, प्रभु अर्थात् राजा के प्रति द्रोह, बुद्ध के प्रति द्रोह, संघ के प्रति द्रोह और विश्वस्त के प्रति द्रोह। द्रोह करने से समाज में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ पैदा होती हैं। इसके बाद पाँच आसक्तियों के न करने का व्रत ग्रहण किया जाता है। ये हैं—रूप के प्रति आसक्ति, शब्द के प्रति आसक्ति, गन्ध के प्रति आसक्ति, रस के प्रति आसक्ति और स्पर्श के प्रति आसक्ति। आसक्ति अर्थात् तृष्णा, तृष्णा समस्त आधि-व्याधि और क्लेशों की जनक है। तृष्णा के कारण ही मानव समाज में अनैतिक कर्मों को करने में प्रवृत्त होता है। अतः इन आसक्तियों से विरत रहने का भी व्रत ग्रहण करते हैं। इस प्रकार इन पच्चीस व्रतों को धारण कर मनुष्य समाज में नैतिक आचरण करेगा और एक स्वस्थ समाज के निर्माण में योगदान देगा।

अभिषेक के बाद जो 'समय' और 'संवर' ग्रहण किया जाता है, उसके विपरीत आचरण करने पर तन्त्रशास्त्र में 14 मूलापत्ति एवं आठ स्थूलापत्तियों में पतित होने का उल्लेख है। इन्हें भी समाजशास्त्रीय दृष्टि से परखें तो ये न केवल तन्त्रसाधना की दृष्टि से पथभ्रष्टता कारक हैं, अपितु इस प्रकार का आचरण सामान्य समाज के हितानुकूल भी नहीं है।

चौदह मूलापत्तियों में प्रथम है गुरु के चित्त को व्याकुल करना। शिष्य को ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए जिससे गुरु के मन में क्षोभ पैदा हो। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि व्यक्ति को समाज के नैतिक नियमों के विपरीत ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए जिससे समाज या व्यक्ति में क्षोभ पैदा हो। यदि ऐसा कार्य करता है तो वह दश-अकुशल कार्यों की ओर प्रवृत्त होता है। दूसरी मूलापत्ति गुरु की आज्ञा का

उल्लंघन करना है। गुरु का स्थान अत्यन्त आदरणीय है। बुद्ध, धर्म और संघ के पश्चात् बौद्धानुयायी गुरु को प्राथमिकता प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार व्याख्यायित कर सकते हैं कि व्यक्ति को समाज द्वारा निर्मित नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यदि सामाजिक नियमों का उल्लंघन करेंगे तो उससे समाज में अव्यवस्था फैलेगी। तीसरी मूलापत्ति भ्रातृ कोप से होती है। यहाँ भ्रातृ कोप का तात्पर्य अपने सहपाठियों या गुरु भाइयों (वज्र-भ्रातृ) से है। चाहे वे छोटे हों या बड़े उनके प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए। यह आसानी से समझा जा सकता है कि समाज में किसी के प्रति भी क्रोधित होना अनुचित है। क्रोध के आवेश में व्यक्ति अनेक गलत कार्यों को कर लेता है। चौथी मूलापत्ति मैत्री त्यागने से होती है। मैत्री त्याग का भी अर्थ है मैत्री से भिन्न प्रतिपक्षी चैतसिकों जैसे, क्रोध, वैर, द्वेष इत्यादि का मन में उत्पन्न होना। मैत्री, करुणा, सहिष्णुता इत्यादि के स्थान पर यदि क्रोध, वैर, द्वेष इत्यादि समाज में फैले तो समाज निश्चय ही नैतिक पतन की ओर जायेगा। पाँचवीं मूलापत्ति बोधिचित्त का त्याग है। अर्थात् परार्थ को छोड़कर स्वार्थ की ओर प्रवृत्त होना। बोधिचित्त की तो यह प्रतिज्ञा है कि जब तक समस्त सत्त्व अनुत्तर बोधि को प्राप्त नहीं होंगे तब तक स्वयं बुद्ध नहीं बनेंगे। समाज में जब व्यक्ति स्वार्थ पर ही ध्यान देंगे तो उस समाज का नैतिक रूप से पतन अवश्यंभावी है। छठी मूलापत्ति सिद्धान्त निन्दा है। यहाँ सिद्धान्त का तात्पर्य अपने अपने धर्म से लिया जा सकता है। बौद्धों के सन्दर्भ में बुद्धोपदिष्ट धर्म है। यदि व्यक्ति अपने ही शास्ता के सिद्धान्तों की निन्दा करने लगे तो समाज में स्वच्छन्दता व्याप्त हो जायेगी। सातवीं मूलापत्ति अपरिपक्व मनुष्यों को गुह्य मन्त्रयान की देशना है। यद्यपि इसकी समाज सापेक्ष व्याख्या इष्ट नहीं होगी तथापि हमें अच्छी बातों का उपदेश व्यक्ति की योग्यता उसकी ग्राह्य क्षमता को ही देखकर करना चाहिये। इस सन्दर्भ में हम विष्णुगुप्त रचित पंचतन्त्र के वानर एवं पक्षी की कहानी का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। आठवीं मूलापत्ति रूपादि स्कन्धों को कष्ट पहुँचाने से होती है और नवीं मूलापत्ति जो सम्यक् धर्म है उसके प्रति अरुचि से होती है। आजकल नये-नये अनेक प्रकार के मत एवं धर्म प्रतिदिन पैदा हो रहे हैं जो अपने शरीर को व्रत, कठोर तपस्या, शरीर का छेदन एवं बालों का लुंचन इत्यादि का प्रचार कर रहे हैं और व्यक्ति इनके व्यामोह में पड़कर जो सम्यक् धर्म हैं उन्हें त्याग कर इन्हें अपना रहे हैं। इससे समाज को कैसी दिशा मिलेगी यह विचारणीय है। दसवीं मूलापत्ति माया-मैत्री है। समाज में इस प्रकार के अनेक प्रकार के माया-मैत्री रखने वालों से समाज का कदापि हित नहीं सधेगा। अतः ऐसी माया-मैत्री का त्याग ही इष्ट है। ग्यारहवीं मूलापत्ति नामादि रहित सुखद तथागत की कल्पना है। इसकी समाज सापेक्ष व्याख्या नहीं की जा सकती। बारहवीं मूलापत्ति

श्रद्धावान् सत्त्व का दोष दिखलाने से होती है। आज ही नहीं प्राचीन काल से समाज में यदि कोई अच्छा काम करता है तो उसका दोष निकालने वाले हजारों होते हैं। अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह गुण-दोषों पर सम्यक् विचार कर गुणवान्, श्रद्धावान् व्यक्ति की कभी निन्दा न करे। तेरहवीं मूलापत्ति 'समय' प्राप्त होने के पश्चात् उसके सेवन नहीं करने से होती है। यद्यपि यह तान्त्रिक अनुष्ठान के विधि विधान से सम्बद्ध है, तथापि समाज के नैतिक नियमों के सन्दर्भ में भी विचार किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति प्रतिज्ञा करने या शपथ लेने के बाद भी उस कार्य को न करे तो समाज के नैतिक नियमों में अव्यवस्था आ जाएगी। अतः इससे बचने के लिये नियमानुकूल या ली गयी प्रतिज्ञा या शपथ के अनुसार कार्य करना समाज के हित में होगा। चौदहवीं मूलापत्ति स्त्रियों के प्रति जुगुप्सा का भाव रखने से होती है। एक स्वस्थ समाज के लिए स्त्री एवं पुरुष दोनों का सामंजस्य होना चाहिए और एक स्वस्थ सम्बन्ध होना चाहिये। स्त्रियों के प्रति जुगुप्सा का भाव रखने से समाज में व्यभिचार फैलता है। पंचशील के अन्तर्गत भी व्यक्ति काम-मिथ्याचार से विरत रहने की प्रतिज्ञा लेता है।

स्थूलापत्तियों का यहाँ समाज के नैतिक नियमों के सन्दर्भ में व्याख्या करना युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अधिकतर तन्त्र साधना से सम्बद्ध विधि विधान है।

तान्त्रिक अनुष्ठान या अभिषेक के क्रम में जिन करणीय एवं अकरणीय कर्मों की प्रतिज्ञा ली जाती है, उनमें विशेषकर पंचशील, 25 प्रकार के व्रत एवं 'समय' तथा 'संवर' के विपरीत आचरण करने पर 14 मूलापत्ति एवं आठ स्थूलापत्ति हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य को समाज सापेक्ष नैतिक आचरण के लिए ये कितने महत्त्वपूर्ण हैं। यदि उपर्युक्त सभी बातों का व्यक्ति समाज में पालन करे तो उस समाज का नित नवीन नैतिक उत्कर्ष होगा। यहाँ इन व्रत, संवर एवं शीलों का समाज की नैतिक व्यवस्था को दृष्टि में रखकर व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। तन्त्र जैसे पहले ही कहा जा चुका है कि यह एक गुह्य विद्या है और इसकी परम्परा भी गुह्य रूप में चलती है, ऐसी स्थिति में तान्त्रिक अनुष्ठान के इन व्रत नियमों एवं संवरों का समाज सापेक्ष चिन्तन करना युक्ति-युक्त होगा? फिर भी कुछ नियम सार्वभौम होते हैं, उन्हें केवल तन्त्र तक सीमित नहीं रखा जा सकता। इस दृष्टि से विद्वद् वर्ग इस पर आगे भी विचार करें, यह काम्य है।

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री

—ठाकुरसेन नेगी—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत 'धीः' के 33वें अंक में 43 महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित अवदान ग्रन्थों की सूचना दी गई थी। प्रस्तुत अंक में उससे आगे के अन्य 44 हस्तलिखित अवदान ग्रन्थों की सूचना दी जा रही है।]

ABBREVIATIONS

ASB	Sanskrit Manuscripts in the Government Collection, ed. by H.P. Shastri, Asiatic Society of Bengal, 1917.
ASHA	Asha Archives, Maitidevi, Kathmandu, Nepal.
BODLEIAN	Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Bodleian Library, Vol. II, 1905.
CAMBRIDGE	Catalogue of the Buddhist Manuscripts in the University Library, Cambridge, ed. by Cecil Bendall, Cambridge, 1883.
COMP./INCOMP.	Complete/Incomplete.
D-2	A Catalogue of Palm-Leaf and Selected Paper Manuscripts belonging to the Darbar Library, Nepal, ed. by H.P. Shastri, Calcutta, 1915.
DEV.	Devanāgarī.
IASWR	Buddhist Sanskrit Manuscripts, Micro-Fische Collection belonging to the Institute for Advance Studies of World Religions, New York.
IOL	Catalogue of the Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Library of India Office, Vol. II.
JBORS	The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna.
MCBMBLJ	A Microfilm Catalogue of the Buddhist Manuscripts in Nepal, ed. by H. Takaoka, Buddhist Library, Japan, 1981.
N	Newārī script.
NP/PL	Nepali Paper/Palm Leaf.
NEPAL-II	Catalogue of Darbar Library, Nepal, Vol. II.
PETROGRAD	Catalogue of Indian Manuscripts, Collection of E.P. Minaev and Some friends, compiler N.D. Mironoff, Published by the Russian Academy of Sciences, Petrograd, 1918.
RAK	Rāṣṭriya Abhilekhālaya, Kathmandu, Nepal.
RAS	Catalogue of Buddhist Sanskrit Manuscripts in the Possession of the Royal Asiatic Society, (Hodgson Collection) London.
SMTUL	A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Tokyo University Library, Tokyo, Japan, 1965.

Title	Author	Institution	Ms. No.
वीतशोकावदान Vītaśokāvadāna		RAK IASWR	3/658 MBB-II-93
वीरकुशराजकुमारावदान Vīrakuśa-Rājakumārāvadāna		ASHA	Bu-A.146
वीरकुशावदान Vīrakuśāvadāna		CABATON CAMBRIDGE RAK " " " " " ASHA " " " " " " " " " "	114 1538 5/14, Reel No.A.915/18 4/1388 4/1385 Reel No.E.1711/25 " " E.896/7 RN.38 " 42 " 177 " 190 " 197 " 430 DH.3 DH.60 DH.327 DH.395

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	26	Comp.	
"	N	34	"	
"	"	40	"	
Paper	Dev.	80		
"	N	40		
NP	"	30		
"	"	31		
"	"	70		
"	"	64		
"	"	62		
"	"	9	"	
"	"	31	Incomp.	
"	"	4-57	"	
"	"	19	"	
"	"	10-66	"	
"	"	77	"	
"	"	63	Comp.	
"	"	27	Incomp.	
"	"	11	"	
"	"	63	"	
"	"	63	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
व्रतावदानमाला		RAK	5/13
Vratāvadānamālā		"	3/295, Reel No.A.124/2
		"	3/295
		"	3/594
		"	3/647
		"	3/670
		"	Reel No.E.652/3, 4
		"	" " E.1741/13
		CABATON	115
		SMTUL	82
Taisho 125, 128, 129, 130, 550		"	83
Peking No. 5645, 1015		"	257-II
		"	380-I
		"	381
शम्भूकावदान		CAMBRIDGE	1580
Śambhūkāvadāna			
शशजातकावदान		RAK	3/592
Śaśajātakāvadāna		"	Reel No.E.1292/12
		CAMBRIDGE	1473
शाक्यसिंहावदान		RAK	Reel No.E.1711/21
Śākyasimhāvadāna			

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	29		
"	"	61		
"	"	265		
"	Dev.	57		
"	"	23		
"	"	52	Comp.	
"	N	15		
"	"	130	"	
Paper	Dev.	146		
"	N	30		
"	"	13		
"	Dev.	1-26		
"	N	65		Ch.1-3
"	"	75		Ch.1-3
"	"	4		
NP	"	5	"	
"	"	12	"	
Paper	Dev.	16	"	
NP	N	14	Incomp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
शार्दूलकर्णावदान Śārdūlakarṇāvadāna No.358 (Aḥ.232b ¹ -277b ⁵) sTag rNaḥi rTogs Pa brJod-Pa T. Ajita Śrībhadrā, Śākya ḥod Taisho No. 1300, Nj No. 645		CABATON RAK	132 4/270, Reel No.A.124/14
शुक्रच्यवनावदान Śukracyavanāvadāna		"	Reel No.E.651/7
		"	" " E.1367/3
शुक्लावदान Śuklāvadāna		"	" " E.1343/1
		IASWR	MBB-II-24
शुक्लाष्टमी-उपोषधावदान Śuklāṣṭamī-upoṣadhāvadāna		RAK	3/594, Reel No.B.109/18
श्रीमतीपरिपृच्छावदान Śrīmatīparipṛcchāvadāna		"	3/290
श्रोणकोटिकर्णावदान Śroṇakoṭīkarṇāvadāna		"	3/394, " " B.101/7
		"	" " E.1487/4
		"	" " E.1848/9
		IASWR	MBB-II-66

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	Dev.	18		ed. by Sujita Kumar
NP	N	28		Mukhopadhyaya, Santiniketan, Vishava- bharati, 1945.
"	"	11	Comp.	
"	"	11	"	
"	"	11	"	
"	"	15		
"	Dev.	18		
"	"	10		
"	"	16		
"	"	16		
"	"	19	"	
"	"	16		

Title	Author	Institution	Ms. No.
शृङ्गभेर्यावदान Sṛṅgabheryāvadāna		RAK 3/290, Reel No.B.101/6 " 5/16, " " A.921/10 " 3/594 CABATON 133	
सच्चक्रताडनावदान Saccakratāḍṇāvadāna		" 136-1 " 137 SMTUL 407 IASWR MBB-II-4 RAK 5/73 RAS "	
सप्तकुमारिकावदान Saptakumārikāvadāna No.4147 (Su.244b ¹ -252b ⁶) No.4506 (92a ² -99b ⁴) gShon-Nu-Ma bDun-Gyi rTogs-Pa brjod-Pa. A. gSañ-Bas Byin.		RAK 3/363, Reel No. A.936/3 " " " A.39/6 " 3/653 CABATON 142	
समन्तचक्षुरावदान Samantacakṣurāvadāna		RAK 3/653, " " B.101/9	
सर्वदेवावदान Sarvadevāvadāna		" 3/645	

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	19		
"	N	23		
"	Dev.	10		
Paper	"	36		
"	N	121		
"	Dev.	151		
"	N	18		
NP	Raṅjanā	26		
"	Dev.	12		
Paper	"	20		
NP	N	59		
"	"	61		
"	Dev.	83-126		
Paper	"	43		
NP	"	11		
"	"	8		

Title	Author	Institution	Ms. No.
सर्वज्ञमित्रावदान Sarvajñamitrāvadāna		SMTUL	321 397 431 432 433 434
		RAK	3/597, Reel No. A.125/2
सर्वार्थसिद्धिकुमारावदान Sarvārthasiddhikumārāvadāna		IASWR	MBB-II-39
सहकारोपदेशावदान Sahakāropadeśāvadāna		CABATON	150
सार्थवाहावदान Sārthavāhāvadāna		IASWR	MBB-II-27
सालपुष्पावदान Sālapuṣpāvadāna		IASWR	MBB-II-20

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	7		Ch.3
"	"	21		Ch.2
Paper	N	20		Ch.2-3
"	"	64	Comp.	Ch.1-4
"	"	129	"	Ch.1-7
"	"	76	"	
NP	"	90	"	
"	"	11		
Paper	Dev.	34		
NP	N	20		
"	"	20		

Title	Author	Institution	Ms. No.
सुगतजन्मरत्नावदानमाला Sugatajanmaratnāvadānamālā		ASB	37/10754
सुगतवसिष्ठसंवाद-सानुमत्तदोषनिर्णयावदान Sugata-vasiṣṭhasarivāda-Sānumatta- doṣanirṇayāvadāna		CABATON	155
सुगतावदान		"	154
Sugatāvadāna		RAS	12
"		SMTUL	473
"		"	474
"		"	475
"		CAMBRIDGE	1273
"		"	1377
"		RAK	3/592, Reel No.A.125/1
"		"	4/1381, " " A.875/8
"		"	5/67
"		"	5/235
"		"	5/68
"		"	5/72
"		"	4/1404
"		"	Reel No. E.380/7
"		"	" " E.699/14
"		"	" " E.1848/1
"		ASHA	DH.1
"		"	DH.317
"		IASWR	MBB-I-56

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	108		
Paper	Dev.	45		
"	"	149		
"	"	25		
"	"	60		Ch.1-22
"	"	71		
"	"	-62		
"				
"				
NP	Dev.	53		
"	"	398		
"	N	98		
"	Rañjanā	97		
"	N	28		
"	"	48		
"	"	115		
"	"	16		
"	"	58		
"	"	57		
"	"	50		
"	"	229		
"	"	81		

Title	Author	Institution	Ms. No.
सुचन्द्रावदान		RAK	3/591, Reel No. B.101/14
Sucandrāvadāna		"	3/302
		"	" " E. 379/8
		"	" " E. 1258/4
		"	" " E. 1474/2
		"	" " E. 1479/6
		"	" " E. 1768/25
		ASHA	RN.27
		IASWR	MBB-II-286
		CAMBRIDGE	1400
		SMTUL	355
		"	361
		"	362
		"	476-1
सुतसोमराजकुमारावदान		RAK	Reel No. E.1552/8
Sutasoma-rājakumārāvadāna		ASHA	RN.181
		"	126
सुधनकिन्नरीजातकावदान		RAK	Reel No. E.1291/8
Sudhanakinnarijātakāvadāna			
सुधनराजकुमारावदान		"	" " E.264/13
Sudhanarājakumārāvadāna		"	" " E.651/3
		"	" " E.891/8
		"	" " E.1354/6
		"	" " E.1361/15
		"	" " E.1712/2
		"	" " E.1311/2
		"	" " E.1311/5

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	11		
"	"	18	Comp.	
"	"	69	"	
"	"	7	Incomp.	
"	"	7	"	
"	"	16		
"	"	8	"	
"	"	23	Comp.	
"	"	25		
Paper	"	18		
"	"	31		
"	Dev.	20		
"	N	20		
"	"	15		
NP	"	26	"	
"	"	11		
"	"	26	"	
"	"	36		
"	"	14	"	
"	"	26	"	
"	Dev.	94	"	
"	N	28	"	
"	"	31	Incomp.	
"	"	77	"	
"	"	60	"	
"	"	52	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
सुधनराजकुमारावदान Sudhanarājakumārāvadāna		ASB	23
		ASHA	RN.15
		"	" 18
		"	" 186
		"	" 191
		"	DH.4
		"	DH.II.96
		"	DH.350
सुप्रियावदान Supriyāvadāna		IASWR	MBB-II-160
सुभद्रावदानमाला Subhadrāvadānamālā		SMTUL	429
सुभाषितमहारत्नावदानमाला Subhāṣitamahārātnāvadānamālā		RAK	4/952, Reel No. B.101/3
सुमगधावदान Sumagadhāvadāna		"	3/593, " " B.101/1
No.346. (Am.291b ¹ -298a ⁶)		"	" " E.1848/10
Magadha bZaṅ-Moḥi sTogs-Pa-brjod-Pa		CABATON	156
T. Dharma Śrībhadra, Tshul-Khrim		CAMBRIDGE	1585
Yontan			

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
PL	N	1		
NP	"	52		
"	"	60	Comp.	
"	"	61		
"	"	17	Incomp.	
"	"	95	Comp.	
"	"	124	"	
"	"	80		
"	"	40		
Paper	"	319		
NP	Dev.	364	Comp.	
"	"	19	"	
"	N	21	"	
"	Dev.	42	"	
"	"	13		

Title	Author	Institution	Ms. No.
सुवर्णप्रभासमहासत्त्वावदान Suvarnaprabhāsamahāsattvāvadāna		RAK	Reel No. E. 651/6
सुवर्णवर्णावदान Suvarnavarṇāvadāna		ASHA	DH.394
No. 4144 (Su.172b ⁷ -227b ²)		IASWR	MBB-II-155
gSer-mDog-Gi sTogs-Pa-brjod-Pa		CAMBRIDGE	1341
T. Dharmaśrībhadrā, Rin-chen bZaṅ-Po		PETROGRAD	292
Taisho No. 550			
सुकरिकावदान Sukarikāvadāna		IASWR	MBB-II-21
No. 345. (Am. 289b2-291a7)			
Phag-Mohi rTogs-Pa brjod-Pa			
T. Jinamitra, Ye-Śes sDe,			
Taisho No. 595, Nj. No. 806			
सोमावदान Somāvadāna		"	MBB-II-34
स्थविरावदान (गुणमाहात्म्य) Sthavirāvadāna (Guṇamāhātmya)		"	MBB-I-45

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	12	Comp.	
"	"	130	"	ed. by S. R. Roy
"	"	130		Patna, 1971.
Paper	"	97		
"	"	72		
NP	"	8		
"	"	11		
PL	"	174		

Title	Author	Institution	Ms. No.
स्नानावदान Snānāvadāna		CAMBRIDGE IASWR	1330 MBB-II-18
स्वर्णचन्द्रावदान Svarṇacandrāvadāna		RAK	Reel No.E.1376/3
हस्तकावदान Hastakāvadāna		" ASHA IASWR	" " E. 699/15 Bu.A.134 MBB-II-26
हिरण्यपाण्यवदान Hiranyapāṇyavadāna		RAK	Reel No.A.125/13
हिरण्यपाशावदान Hiranyapāśāvadāna		IASWR	MBB-II-25

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	11		
NP	"	14		
"	"	38		
"	"	16	Comp.	
"	"	10	Incomp.	
"	"	12		
"	"	18		
"	"	14		

शून्याश्च शान्त अनुत्पादनय अविजानदेव जगदुदभ्रमति ।
तेषामुपायनययुक्तिशतैरवतारयस्यापि कृपालुतया ॥
(राष्ट्रपालपरिपृच्छा 2.310)

नीतार्थसूत्रान्तविशेष जानति
यथोपदिष्टा सुगतेन शून्यता ।
यस्मिन् पुनः पुद्गलसत्त्वपुरुषा
नेयार्थतो जानति सर्वधर्मान् ॥ (समाधिराजसूत्र 7.5)

वात्सीपुत्रीय पुद्गल की समीक्षा : तत्त्वसंग्रह के परिप्रेक्ष्य में

—पेमा तेनजिन—

[थेरवाद के दो मूलनिकाय माने जाते हैं—स्थविरवाद और महासांघिक। स्थविरवाद से अन्य ग्यारह निकायों तथा महासांघिक से पाँच निकायों का उद्भव हुआ। इनमें स्थविरवाद से उत्पन्न एक वात्सीपुत्रीय (वाज्जिपुत्रक) भी है, जो पुद्गल की सत्ता को स्वीकार करता है, इसीलिए स्थविरवादियों से इनका विरोध है। इनका कहना है कि भगवान् ने पुद्गल का निषेध नहीं किया है, भारहारसूत्र इसका उदाहरण है। आचार्य शान्तरिक्षत ने अपने तत्त्वसंग्रह में इसकी विस्तार से समीक्षा की है। इसी को संक्षेप में इस निबन्ध में प्रस्तुत किया गया है।]

सर्वदृष्टिप्रहाणाय यः सद्धर्ममदेशयत् ।

अनुकम्पामुपादाय तं नमस्यामि गौतमम् ॥

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के सौ वर्ष उपरान्त बौद्धधर्म प्रमुख अठारह निकायों में विभाजित हो गया। इस विभाजन का मूल कारण भगवान् बुद्ध की उदार दृष्टि थी, जिसने अपने अनुयायियों को विचारों की स्वतन्त्रता प्रदान की। भगवान् ने शास्त्रों एवं शास्ता के वचनों की प्रामाणिकता का अच्छी तरह से परीक्षण किए बिना उसे स्वीकार करने का सर्वथा निषेध किया। स्वयं भगवान् कहते हैं—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः ।

परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्ब्रुवो न तु गौरवात् ॥¹

कहीं भी अभिनिविष्ट न होने का, प्रमाणपरिशुद्धि का तथा निर्विकल्पज्ञान का जो अनुभव है, उसी की प्रामाणिकता का उन्होंने उपदेश किया है। फलतः हीनयान के अन्तर्गत अठारह निकायों के अनन्तर महायान निकाय का विकास मान्य है। इतने अधिक निकायभेद होने के बावजूद भी सभी अपने को बुद्ध का अनुयायी मानते हैं। उनका अपना मत ही बुद्ध के उपदेश के अनुकूल है, ऐसा उनका सुनिश्चित मत है।

भगवान् बुद्ध ने बोधगया में बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त जीवनपर्यन्त जनकल्याण के लिए सद्धर्म का उपदेश किया। उपदिष्ट वचनों को उनके

1. श्रीमहाबलतन्त्रराज-नाम, (तो० 391) “ग” पृ० 216, तन्त्रवर्ग।

अमुषितस्मृतिज्ञान शिष्यों ने कण्ठस्थ कर लिया और उन्हें पश्चात् संग्रहित किया। उन्हें ही आज बुद्धवचन कहा जाता है। भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के अनन्तर स्थविर महाकाश्यप ने संघ में उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिए शास्ता द्वारा उपदिष्ट विशुद्ध धर्मों की चिरस्थिति के लिए राजगृह की सप्तपर्णी गुफा में पाँच सौ वीतराग अर्हत्तों की परिषद् आहूत की, जिसने प्रामाणिक बुद्धवचनों का निश्चय कर उनका संगायन किया।

संगीतिकारों ने बुद्धवचनों का संकलन कर उन्हें तीन पिटकों के नाम से व्यवहृत किया—विनयपिटक, सूत्रपिटक तथा अभिधर्मपिटक। तीन ही पिटक होते हैं, न उससे अधिक, न कम। बुद्ध के समस्त उपदेशों का सार शील, समाधि, प्रज्ञा तीन शिक्षाएं हैं। इन शिक्षाओं का आधार त्रिपिटक है। इसके अतिरिक्त भी अन्य ग्रन्थों में तीन पिटकों के होने में अनेक कारण दिये गये हैं। जैसे—तीन देशनाओं के आधार पर भी तीन ही पिटक होते हैं—आज्ञादेशना, व्यवहारदेशना तथा परमार्थदेशना।¹ तीन प्रकार के शासन के आधार पर भी तीन ही पिटक होते हैं—यथापराधशासन, यथानुलोमशासन तथा यथाधम्मशासन।² तीन प्रकार की कथाओं के आधार पर भी तीन पिटक होते हैं—संवरासंवरकथा, दृष्टिविनिवेष्टनकथा तथा नामरूपपरिच्छेदकथा।³ पुनः इनके तीन होने में नौ कारण

1. आज्ञा देने योग्य भगवान् द्वारा उपदिष्ट विनयपिटक आज्ञाबहुल होने से 'आणा' (आज्ञा) देशना है। व्यवहार कुशल भगवान् द्वारा बहुलतया व्यवहार-कौशल्य के लिए उपदिष्ट सूत्रपिटक 'वोहार' (व्यवहार) देशना है। परमार्थ कुशल भगवान् द्वारा प्रमुखतः परमार्थ धर्मों के यथार्थ अवबोध के लिए उपदिष्ट अभिधर्मपिटक 'परमत्थ' (परमार्थ) देशना है।

—अभि० सङ्गहो, भाग-1 (द्वि० सं०), पृ० 14, सं० सं० वि० वि०, वाराणसी, 1991

2. विनयपिटक यथापराध-शासन है, क्योंकि इसमें अधिक अपराधवाले सत्त्व शासित किये जाते हैं। सूत्रपिटक यथानुलोम-शासन है, क्योंकि इसमें अनेक प्रकार के अध्याशयवाले, अनेक प्रकार की चर्या एवं अधिमुक्ति वाले सत्त्व अपने-अपने अध्याशय, अनुशय, चर्या और अधिमुक्ति के अनुसार शासित किये जाते हैं। अभिधर्मपिटक यथाधम्म-शासन है, क्योंकि इस पिटक में चित्त, चैतसिक और रूप आदि धर्मसमूह में 'अहम्' और 'मम' संज्ञावाले सत्त्व धर्मों के यथार्थ स्वभाव के अनुरूप शासित होते हैं।

—अभि० सङ्गहो, भाग-1 (द्वि० सं०), पृ० 15, सं० सं० वि० वि०, वाराणसी, 1991

3. विनयपिटक में अत्याचरण के प्रतिपक्षभूत संवर (संयम=इन्द्रियगुप्ति) और असंवर का कथन किया गया है, अतः विनयपिटक 'संवरासंवर-कथा' है। सूत्रपिटक में 62 प्रकार की मिथ्यादृष्टियों की प्रतिपक्षभूत दृष्टिविघातक कथाएं उपदिष्ट हैं, अतः सूत्रपिटक 'दृष्टिविनिवेष्टन-कथा' है। अभिधर्मपिटक में राग-आदि क्लेशों का प्रतिपक्षभूत नामरूप-परिच्छेद कहा गया है, अतः अभिधर्मपिटक 'नामरूप-परिच्छेद-कथा' है।

—अभि० सङ्गहो, भाग-1 (द्वि० सं०), पृ० 15, सं० सं० वि० वि०, वाराणसी, 1991

प्रमुखतया कहे गये हैं—प्रतिपक्ष की दृष्टि से तीन, शिक्षा की दृष्टि से तीन तथा ज्ञेय की दृष्टि से तीन¹।

1. पिटकत्रयं द्वयं वा संग्रहतः कारणैर्नवभिरिष्टम् ।

वासन-बोधन-शमन-प्रतिवेधैस्तद् विमोचयति ॥

म० सूत्रालंकार, पृ० 55, मिथिला प्रकाशन।

तु०-अट्टसालिनीकथा, पृ० 41-43, सं० सं० वि० वि०, 1989

विचिकित्साप्रतिपक्षेण सूत्रम्, ...अन्तद्वयानुयोगप्रतिपक्षेण विनयः, ...स्वयंदृष्टिपरामर्शप्रतिपक्षेणाभि-
धर्मोऽविपरीतधर्मलणाभिद्योतनात्। द्र०-म० सू०, पृ० 55, मि० सं० 1970, तु०-अट्ट०, पृ० 19

द्रष्टव्य - प्रतिपक्ष की दृष्टि से तीन—तीन उपक्लेश होते हैं, जो चित्त को क्लिष्ट करते हैं तथा मोक्ष मार्ग के प्रतिबन्धक हैं। प्रथम विचिकित्सा उपक्लेश है, जिससे प्रभावित हो व्यक्ति किसी भी सुनिश्चित मार्ग में प्रविष्ट नहीं हो सकता है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद, आर्यसत्य आदि के प्रति संशय पैदा कराने वाली बुद्धि है। द्वितीय अन्तद्वयानुयोजक उपक्लेश है, जिसके प्रभाव से व्यक्ति अत्यधिक भोग विलास में अनुरक्ति अथवा चित्तशुद्धि के लिए अत्यधिक पीडादायक व्रतों के आचरण में पतित होता है तथा मध्यममार्ग से विरहित होता है। तीसरा उपक्लेश इदंसत्याभिनिवेश है, जो अपने द्वारा गृहीत मिथ्यादृष्टियों के प्रति यही सत्य है, अन्य मिथ्या हैं, इस प्रकार आग्रह करने वाली बुद्धि है। इन तीनों उपक्लेशों के लिए उनके प्रतिपक्ष के रूप में भगवान् ने क्रमशः सूत्रपिटक, विनयपिटक तथा अभिधर्मपिटक का उपदेश किया है।

शिक्षा की दृष्टि से तीन कारण—बुद्ध के उपदेशों का सार तत्त्व तीन शिक्षाएं हैं—अधिशीलशिक्षा, अधिसमाधिशिक्षा तथा अधिप्रज्ञाशिक्षा। इनके सुस्पष्ट प्रतिपादन के लिए तीन पिटक कहे गये हैं। सामान्यतः तीनों प्रकार की शिक्षाओं के लिए सूत्रपिटक, शील एवं समाधि के लिए विनयपिटक तथा प्रज्ञाशिक्षा के लिए अभिधर्मपिटक कहा गया है। हीनयान में सूत्रपिटक द्वारा प्रतिमोक्ष संवर, आचारगोचर विशुद्धि, विधिविशुद्धि, थोड़े पाप में भी भय देखना आदि शीलशिक्षा, ध्यान-समापत्ति एवं अरूप-समापत्ति आदि समाधिशिक्षा तथा चार आर्यसत्त्यों को यथार्थ जानने वाली विपश्यना प्रज्ञाशिक्षा कही गयी है। महायान की दृष्टि से सूत्रपिटक द्वारा दुश्चरित मात्र का निरोध आदि शीलशिक्षा, गगनगञ्ज, शूरङ्गम आदि समाधिशिक्षा तथा परमार्थ स्थिति को जानने वाला निर्विकल्पक ज्ञान प्रज्ञाशिक्षा है।

ज्ञेय की दृष्टि से तीन कारण—सूत्रपिटक धर्म और उसके द्वारा अभिधेय अर्थों की सम्यग् व्याख्या करता है। विनयपिटक धर्म और उसके अर्थों को सिद्ध करता है, हेयोपादेय द्वारा विशुद्ध शील से युक्त हो चित्त के मल क्षीण होते हैं, तब पूर्वकथित धर्म और अर्थ उसकी सन्तान में साक्षात् उद्भूत होते हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार विनयपिटक धर्म और अर्थों को सिद्ध करता है। अभिधर्मपिटक समस्त धर्मों के यथार्थ स्वरूप का बोध कराता है और इस प्रकार पुद्गल को उनके यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में एक निर्णय पर पहुँचाता है। इसलिए अभिधर्मपिटक धर्म और अर्थ सम्बन्धी वार्तालाप में पुद्गल को सक्षम बनाता है।

—बौद्धसिद्धान्तसार, पृ० 20-25, ति० सं० 1997; महायानसूत्रालंकार, पृ० 55; अट्टसालिनीकथा, पृ० 19

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के सौ वर्षों के उपरान्त वैशाली निवासी 'वज्जी' भिक्षुओं द्वारा विनय विरुद्ध दस अनुचित वस्तुओं¹ के सेवन से उत्पन्न विवाद को शान्त करने हेतु वैशाली में द्वितीय संगीति सम्पन्न हुई, जिसमें 700 भिक्षुओं ने भाग लिया तथा उन्होंने प्राचीन परम्परा के तहत इन दश अनुचित वस्तुओं के सेवन को विनय के विरुद्ध माना तथा उन भिक्षुओं को संघ से हटा दिया गया जो इनका सेवन करते थे। भोट एवं चीनी बौद्ध परम्परा इस संगीति का काल बुद्ध के महापरिनिर्वाण के एक सौ दस साल बाद मानती है²। द्वितीय संगीति से निकाले गये भिक्षुओं ने कौशाम्बी में पृथग् संगीति की, जिसमें दस हजार भिक्षुओं ने भाग लिया और यह महासांघिक कहलाया। पालिपरम्परा के अनुसार अठारह निकायों में से मूल निकाय स्थविरवाद ही है। विनय ज्ञान में विशिष्ट गुणप्रभ सर्वास्तिवाद को ही मूल निकाय मानते हैं तथा आचार्य विनीतदेव चार मूल निकाय मानते हैं। थेरवाद दो मूल निकाय मानते हैं—स्थविरवाद एवं महासांघिक। स्थविरवाद से अन्य ग्यारह निकायों का तथा महासांघिक से अन्य पाँच निकायों का उद्भव हुआ। इस प्रकार स्थविरवाद में ही आगे चलकर वात्सीपुत्रीय अथवा वज्जिपुत्तक निकाय का उद्गम हुआ। ऐसा लगता है कि वत्स देश के भिक्षुओं का अपना पृथग् मत होने के कारण तत्सम्बन्धित मत को ही निकाय का नाम दे दिया गया। इनका स्थविरवाद से सैद्धान्तिक मतभेद था। ये वास्तव में पुद्गल की सत्ता मानने वाले हैं। स्थविरवाद से इनका प्रबल विरोध था। इसलिए तृतीय संगीति काल में मोद्गलीपुत्र तिष्य ने कथावस्तु में सर्वप्रथम पुद्गलवादी वात्सीपुत्रीय का खण्डन किया। अतः तृतीय संगीति के पूर्व से ही यह निकाय अस्तित्व में आ चुका था। कौशाम्बी, मथुरा, अवन्ती इनके प्रमुख केन्द्र रहे हैं³। इनका कहना है कि भगवान् ने पुद्गल का निषेध नहीं किया है, जिसकी पुष्टि के लिए वे भारहार

1. कप्पति सिंगलोककप्पो, कप्पति द्वयंगुलकप्पो, कप्पति गामन्तरकप्पो, कप्पति आवासकप्पो, कप्पति अनुमतिकप्पो, कप्पति आचिण्णकप्पो, कप्पति अमथितकप्पो, कप्पति जलोगि पातुं, कप्पति अदसकं निसीदनें, कप्पति जातरूपरजतं ति। द्र०-चुल्लवग्ग (विनयपिटक), पृ० 416। तिब्बती विवरण में दश वस्तुओं में कुछ भिन्नताएं हैं जैसे—अल्ल शब्द का उच्चारण, भोजन में अभिरति, भूखनन, इनका विवरण क-ग्युर संग्रह के विनयवर्ग, क्षुद्रकागम में द्रष्टव्य है।

द्रष्टव्य - बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, प्रो० जी० सी० पाण्डेय, पृ० 170-171, 1976

2. द्र० - क्षुद्रकागम, कग्युर संग्रह (विनयवर्ग), 'द' पुद् पृ० 493-494; ग्यु-दे चियी नमशग, 'ज' पुद् पृ० 13 (खेडुब जे कृत, भोट भाषा)।
3. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, (प्रो० जी० सी० पाण्डेय) पृ० 184-185, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ० प्र०, 1976

सूत्र का उदाहरण देते हैं। उनके अनुसार पुद्गल न नित्य है, न अनित्य; पांच स्कन्धों से न भिन्न है, न अभिन्न है। दोनों नहीं कह सकते हैं, अर्थात् ये पुद्गल के अस्तित्व को तो मानते हैं किन्तु उसे अनिर्वचनीय मानते हैं और उसे द्रव्यसत् भी मानते हैं।

आठवीं शताब्दी में नालन्दा महाविहार के आचार्य शान्तरक्षित ने तत्कालीन भोट नरेश त्रिसोङ देउचन के निमन्त्रण पर तिब्बत की यात्रा की तथा महान् तान्त्रिक आचार्य पद्मसम्भव के सहयोग से उन्होंने तिब्बत में बौद्धधर्म की स्थापना कर 'समये' महाविहार का निर्माण किया। उन्होंने ही तिब्बत में सर्वप्रथम सात युवकों को परीक्षण के तौर पर भिक्षु बनाकर संघ की स्थापना भी की। यहीं से तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रवेश के साथ वहाँ तिब्बती लोगों का वास्तविक जीवन प्रभावित होता गया और सम्पूर्ण तिब्बत अतिशीघ्र बौद्धधर्मावलम्बी हो गया। साथ ही, उन्होंने तिब्बती भाषा में बुद्ध वचनों का अनुवाद कराकर सम्पूर्ण भोट देश को बौद्धमय बनाने में अहम् भूमिका निभायी। तिब्बत में उन्हें आचार्य बोधिसत्त्व कहा जाता है। उन्होंने अपना समस्त शेष जीवन तिब्बत में ही बुद्धशासन के प्रचार-प्रसार में व्यतीत कर दिया।

आचार्य ने अनेक गम्भीर शास्त्रों की रचना की, जिनमें मध्यमकालङ्कार, मध्यमकालङ्कारवृत्ति, ज्ञानगर्भ विरचित सत्यद्वयविभंग की पञ्जिका एवं तत्त्वसंग्रह मुख्य हैं। तत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ में आचार्य ने तात्कालिक कपिल, नैयायिक, मीमांसकों के सिद्धान्तों का क्रमशः खण्डन किया है। स्व-सिद्धान्त का मण्डन तथा परमत का खण्डन प्रथम कर्तव्य होता है। अतः इस ग्रन्थ में आचार्य ने परपक्ष का निराकरण करते हुए विस्तार से स्वमत का प्रतिपादन किया है। इस ग्रन्थ में साक्षात् विरोधी कपिल आदि के मतों का निराकरण ही इसका उद्देश्य है। यद्यपि आचार्य शान्तरक्षित को स्वातन्त्रिक माध्यमिक माना जाता है, किन्तु इस ग्रन्थ में उन्होंने कहीं भी स्वातन्त्रिक माध्यमिक प्रक्रिया को विस्तार से निरूपित नहीं किया है। उन्होंने अपने तत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ में वात्सीपुत्रीय के मत का उल्लेख करते हुए उसका खण्डन किया है, जिसे संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

आचार्य उन पर आक्षेप करते हुए व्यंग्यपूर्वक कहते हैं कि स्वयं को बुद्ध का अनुयायी मानने वाले कुछ बौद्ध आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं किन्तु उसे आत्मा का नाम न देते हुए पुद्गल के नाम से अभिहित करते हैं। इस प्रकार वे पुद्गल को

वस्तुसत् स्वीकार करते हैं, उसे तत्त्व एवं अन्यत्व से भिन्न मानते हैं अर्थात् पंचस्कन्धों से अन्य एवं अनन्य नहीं मानते हैं, अनित्यत्वेन एवं नित्यत्वेन भी पुद्गल को अवाच्य मानते हैं। फिर भी वे स्वयं को सुगतसुत मानते हैं। आचार्य आश्चर्य करते हैं कि स्वयं को नैरात्म्यवादी भगवान् बुद्ध का सुत मानने वाले ये कैसे मिथ्यादृष्टि में अभिनिर्दिष्ट हो गये हैं?

केचित्तु सौगतम्मन्या अप्यात्मानं प्रचक्षते ।

पुद्गलव्यपदेशेन तत्त्वान्यत्वादिवर्जितम् ॥¹

आचार्य तैर्थिकों के आत्मा का लक्षण करते हुए कहते हैं कि “जो शुभ-अशुभ कर्मों को करने वाला है, अपने द्वारा किये गये इष्ट-अनिष्ट कर्मों के फल को भोगने वाला है और जो पूर्व स्कन्ध का परित्याग कर दूसरे पंचस्कन्धों का उपादान करता हुआ संसरण करता है तथा मुक्त होता है, वह आत्मा है।” ये समस्त बातें वात्सीपुत्रीय पुद्गल के सम्बन्ध में कहते हैं। केवल नाम में भेद है, परन्तु वस्तु एक ही है।

पुद्गल को अवाच्य मानने में वात्सीपुत्रीय इस प्रकार की युक्ति देते हुए कहते हैं कि स्कन्ध से पुद्गल यदि अन्य होगा तो तैर्थिक द्वारा परिकल्पित आत्मदृष्टि का प्रसंग होने लगेगा। इसलिए वे कहते हैं कि स्कन्ध से पुद्गल अन्य नहीं है। पुद्गल पाँच स्कन्धों से अभिन्न भी नहीं है, अन्यथा अनेक होने का प्रसंग हो जायेगा। अतः वे इसे अवाच्य कहते हैं।

यदि हम इसे नित्य मानते हैं तो उसमें कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व नहीं रहेगा, क्योंकि नित्य या शाश्वत वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व नहीं होता है अथवा युगपत् क्रिया होने लगेगी। अभोक्ता से भोक्ता में परिवर्तन न मानने पर भोक्ता भी नहीं बन पायेगा। आकाश की भाँति वह हमेशा एक स्वभाव वाला रहेगा। अक्रियावस्था से क्रियावस्था में अन्तर होना चाहिए, अन्यथा कर्ता नहीं बन पाएगा। इसलिए भगवान् ने शाश्वत आत्मा का निषेध किया है। “निरात्मानः सर्वे धर्माः...।”² किन्तु यदि पुद्गल को अनित्य मानते हैं, तब पाँच स्कन्धों से

1. तत्त्वसंग्रह - पृ० 159, 336 का०; तु० - मध्यमकावतार, 145 का०, (भोट भाषा);
द्र०-न चैवात्मा नित्यानित्यभूतः। तस्य हि स्कन्धेभ्यस्तत्त्वान्यत्वावक्तव्यतावत् नित्यत्वेनानित्यत्वेनाप्य-
वक्तव्यता व्यवस्थाप्यते। —प्रसन्नपदा, पृ० 122, बौ० भा०, वाराणसी।
2. तत्र यथा निरात्मानश्च सर्वधर्माः ...। —शिक्षासमुच्चय, पृ० 131, मि० प्र० 1960, बो० च० पं०, पृ० 224, मि० प्र० 1960; धर्मसंग्रह (म० सू० सं०) पृ० 332, मि० प्र० 1960; रत्नकूटसूत्र, (भोट संस्करण), ‘क’ पुद् पृ० 180; सन्धिनिर्मोचनसूत्र, ‘च’ पुद् पृ० 51

अभिन्न होने के कारण पुद्गल भी पाँच हो जायेंगे। किन्तु भगवान् ने पुद्गल को एक कहा है। जैसे—“एकः पुद्गलो लोक उत्पद्यमान उत्पद्यते यद्वत् तथागतः”।

पुद्गल को अनित्य मानने पर रूपादि स्कन्धों की भाँति पुद्गल का भी उच्छेद हो जायेगा तथा कृतकर्मविप्रणाश का प्रसंग हो जायेगा, क्योंकि अनित्य मानने पर वह क्षणिक होगा और क्षणिक होने पर पूर्व क्षण में किये गये कर्म का फल दूसरे क्षण में स्थित पुद्गल को भोगना पड़ेगा, जिसने उस कर्म को किया ही नहीं। अतः अकृताभ्युपगम दोष होगा। जिसने कर्म किया, वह कर्म का फल बिना भोगे नष्ट हो गया। कर्म एवं कर्म-फल के सिद्धान्त को सभी भारतीय आस्तिक दर्शन स्वीकार करते हैं, बौद्ध भी इसे स्वीकार करते हैं। कर्म करने वाले को ही उसका फल भोगना चाहिए। हजारों जन्मों के बाद भी फल को भोगना ही है, क्योंकि किया गया कर्म कदापि नष्ट नहीं होता है।¹

इस प्रकार भगवान् ने उच्छेदवाद का खण्डन किया है, इसलिए हमारा अवाच्य पुद्गल सिद्ध है। इस पर आचार्य कहते हैं कि पारमार्थिक रूप से पुद्गल कदापि विद्यमान नहीं होता है, क्योंकि वह अवाच्य है। पारमार्थिक वस्तु या तो तत्त्व होती है या फिर नहीं, पंच स्कन्धों से भिन्न होती है या फिर नहीं, किन्तु आप दोनों को नहीं मानते तो वह वस्तु ही नहीं रह जायेगी। यदि पुद्गल पंचस्कन्ध से भिन्न या अभिन्न नहीं है, तो वह आकाश कमल के समान असत् हो जायेगा, तीनों कालों में उसकी कोई सत्ता नहीं होगी। इसका यह तात्पर्य हुआ कि आप लोग वस्तुसत् पुद्गल नहीं मानते हैं, क्योंकि उसे अवाच्य कहते हैं, जैसे कोकनद। पुद्गल वस्तुसत् नहीं है—ऐसा आपने स्वयं अपने वचन से सिद्ध कर दिया।

जो वस्तु के स्वरूप से एक रूप या अन्य रूप नहीं है, उसे वस्तु नहीं कह सकते हैं। वस्तु से अन्य एवं अनन्य को अवाच्य कहने से वह वस्तु नहीं होती है, क्योंकि जो वस्तु है, वह तत्त्व एवं अन्यत्व से अतिक्रान्त नहीं होती, उसकी तीसरी गति नहीं होती है। अन्यथा रूपादि का भी परस्पर अवाच्यत्व हो जायेगा। एक रूप को दूसरे रूप के साथ तत्त्व और अन्यत्व में से एक होना चाहिए। इसलिए नीरूप, अस्वभाव को अवाच्य कहा जाता है। वस्तु अस्वभाव कभी नहीं होती है।

1. न हि प्रणश्यन्ति कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि ।
सामग्रीं प्राप्य कालं च फलन्ति खलु देहिनाम् ॥ —अवदानशतकम्, 13/2

आचार्य पुनः कहते हैं कि—भेद और अभेद का आधार वस्तु ही होता है, अवस्तु नहीं, क्योंकि वह तत्त्व एवं अन्यत्व भी नहीं है। अतः वह अनिर्देश्य एवं निःस्वभाव है। वस्तु में तो ऐसा नहीं होता, उसमें भेद-अभेद बताना पड़ता है, क्योंकि उसकी तीसरी गति नहीं होती है।

इस पर वात्सीपुत्रीय प्रश्न करते हैं कि गत्यन्तर का अभाव कैसे होता है?

रूपादि स्वभाव पुद्गल नहीं होता है। यदि यह रूपादिस्वभाव नहीं होता है, तो रूपादि से अन्य कहा जायेगा। एक स्वभाव का निषेध स्वभावान्तर की विधि से अविनाभूत होता है। इस कारण वस्तु से अन्यत्व का निषेध होता है, वस्तु का नहीं। जो वस्तु जिस स्वभाव से रहित होती है, वह उससे भिन्न है। जैसे—रूप वेदना से। यदि रूपादि स्वभाव से रहित पुद्गल नामक वस्तु है—तो उसे अन्य स्वभाव वाला होना चाहिए। तत्स्वभाव का निषेध करते हैं, तो उसे तत्त्व से भिन्न कोई वस्तु होना चाहिए। वह वस्तु का अतिक्रमण नहीं करता। तत्त्व वस्तु का भेद है।

वस्तुसत् के अर्थान्तर भाव का निषेध करते हैं तो दूसरा तत्त्व होना चाहिए। अन्यथा यदि तुम एक स्वभाव का निषेधकर अन्य स्वभाव का निरूपण नहीं करते हो, तब वह पुद्गल अस्वभाव हो जायेगा। उसका कोई स्वभाव नहीं होगा और वह अवस्तु हो जायेगा। जो वस्तु अपने स्वभाव से अर्थान्तर रूप से प्रतिषेध-स्वरूप है, वह वही होगी। जैसे रूप अपने स्वभाव से भिन्न वस्तुओं से प्रतिषिद्धात्मक है। इसलिए वह रूप ही है। पुद्गल रूपादि से अर्थान्तर रूप से प्रतिषिद्धात्मक स्वरूप है, इसलिए वह वस्तु स्वरूप हो या वस्तु से अन्य, दोनों स्थिति में वह वस्तुता का अतिक्रमण नहीं करता है।

अभी जो ऊपर कहा गया है, उससे यह सिद्ध हो गया कि जिसे वात्सीपुत्रीय पुद्गल कहते हैं, वह स्कन्ध से अनन्य एवं अन्य नहीं है, अतः वह पुद्गल प्रज्ञप्तसत् है। प्रज्ञप्तसत् अन्य एवं अनन्य नहीं होता, किन्तु व्यवहारमात्र होता है। अब यदि तुम पुद्गल को वस्तुस्वभाव मानते हो, तो अवाच्य नहीं मान सकते। अन्यथा एक तरफ वस्तु और दूसरी तरफ अवाच्य मानने पर परस्पर विरोध हो जायेगा। शान्तरक्षित कहते हैं कि विरुद्ध धर्म का संश्लेष (भाव-अभाव) वस्तु का भेद कहा जाता है। स्कन्ध और पुद्गल यदि परस्पर विरुद्ध हैं तो क्या वे भिन्न नहीं होंगे?

पुनः पुद्गल को अवाच्य कहने वाले तुमने स्कन्धों से पुद्गल का अन्यत्व स्पष्ट रूप से उद्घोषित कर दिया है। जो परस्पर परिहारस्थित दो धर्म होते हैं, वे परस्पर भिन्न होते हैं, क्योंकि यदि वह भावरूप है तो अभाव का परिहार करेगा। जैसे—रूप-वेदना, मूर्त-अमूर्त, वाच्यत्व-अवाच्यत्व। स्कन्ध और पुद्गल वाच्य और अवाच्य का आधार हैं, इसलिए दो हो जायेंगे।

यदि वात्सीपुत्रीय कहें कि यह असिद्ध हेतु है, तो यह असिद्ध नहीं है। तुम पुद्गल को वेदना से तत्त्व एवं अन्यत्व से अवाच्य मानते हो, किन्तु संज्ञा आदि तो वेदना आदि से परस्पर अन्य रूप से वाच्य है। इसलिए हेतु असिद्ध नहीं है।

रूप आदि स्कन्धों को आप अनित्य रूप से वाच्य मानते हैं, किन्तु तुम्हारा पुद्गल वैसा नहीं है। वह स्पष्ट रूप से रूपादि से भिन्न है। “अनित्याः सर्वसंस्काराः...”¹ भगवान् के इस वचन से रूप आदि को अनित्य रूप में वाच्य कहा गया है। किन्तु तुम्हें पुद्गल इस प्रकार से वाच्य इष्ट नहीं है, क्योंकि वह अनित्यत्वेन भी अवाच्य है। वह सभी प्रकार से अवाच्य है। भेद व्यवहार का हेतु इतना मात्र होने के कारण इस हेतु की अनैकान्तिकता भी नहीं है। अन्यथा समस्त संसार की वस्तुएं एक हो जायेंगी। फलतः उनके युगपत् उत्पाद एवं विनाश का प्रसंग हो जायेगा।

आचार्य कहते हैं कि केवल तत्त्व और अन्यत्व से अवाच्य होने से पुद्गल के अवस्तु होने का एक ही तर्क नहीं है, अपितु दूसरे भी तर्क हैं। दूसरे प्रकार से उनका खण्डन करते हुए कहते हैं कि—सत् होने का लक्षण है कि वह वस्तु अर्थक्रिया में समर्थ हो, अन्यथा वह वस्तु नहीं हो सकती। जिसमें अर्थक्रिया होती है, वह क्षणिक होता है। एक अर्थक्रिया एक ही बार होती है, दूसरे क्षण में दूसरी अर्थक्रिया होती है। ऐसी अवस्था में पहले क्षण से दूसरे क्षण की वस्तु पृथग् हो जाती है। अर्थक्रियासामर्थ्य केवल क्षणिक वस्तु में निश्चित है, जबकि तुम्हारा पुद्गल अवाच्य है, वह क्षणिक नहीं है, इसलिए वह अवस्तु है।

वात्सीपुत्रीय अनित्यत्वेन भी पुद्गल को अवाच्य मानते हैं, इसलिए वह अवस्तु हो जायेगा। अवस्तु सभी सामर्थ्यों से रहित होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिसमें

1. धर्मसंग्रह (म० सू० सं०) पृ० 332, मि० प्र० 1960; रत्नकूटसूत्र, (भोट संस्करण), ‘क’ पुट् पृ० 180; सन्धिनिर्माचनसूत्र, ‘च’ पुट् पृ० 51

अर्थक्रिया सामर्थ्य है, वह वस्तु है। वह निश्चित रूप से क्षणिक होता है, क्योंकि वह (अर्थक्रिया) क्षणिकता से व्याप्त है। अनित्यत्व व्यापक है, अर्थक्रिया व्याप्त। अर्थक्रिया क्षणिकत्व से व्याप्त है। अर्थक्रिया नित्य से व्याप्त नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें क्रम एवं युगपत् अर्थक्रिया सामर्थ्य से विरोध होता है। अतः क्षणिकत्व से अवाच्य पुद्गल में वस्तुता नहीं होती है। व्यापक की निवृत्ति होने से अर्थक्रिया (व्याप्त) की भी निवृत्ति हो जाती है। जैसे—वृक्ष की निवृत्ति से शिंशपा (वृक्ष विशेष) की भी निवृत्ति। कहा भी गया है कि—“जो अनित्य होने से अवाच्य है वह किसी का हेतु नहीं हो सकता।”¹

यदि पुद्गल नित्य है, तब उसका क्रम-युगपद् दोनों तरह से अर्थक्रिया विरोध होता है, लेकिन जिस प्रकार हम अनित्यत्वेन उसे अवाच्य मानते हैं, उसी प्रकार नित्यत्वेन भी अवाच्य मानते हैं, इसलिए अर्थक्रिया-सामर्थ्य से विरोध नहीं होता है। यदि वात्सीपुत्रीय ऐसा कहें तो—यह उचित नहीं है। नित्य एवं अनित्य उभयाकार से विनिर्मुक्त वस्तु का स्वलक्षण उचित नहीं है, क्योंकि नित्य और अनित्य में अन्योन्यवृत्तिपरिहारलक्षण भाव होता है। अर्थात् जो वस्तु है, उसे एक आकार का त्याग करने पर अपर आकार का परिग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उनका अविनाभाव सम्बन्ध होता है।

आचार्य कहते हैं कि—पुद्गल में अवाच्य शब्द के निवेशन का हम विरोध नहीं करते हैं, हमें शब्द में कोई आपत्ति नहीं है। आत्मा शब्द का भी हम विरोध नहीं करते हैं। हमें आपत्ति है, उसके नित्य अर्थ से। जो सत् व नित्य है, वह वस्तु नहीं हो सकती। शब्द विवक्षाधीन होता है, इसलिए तुम स्वतंत्र रूप से अवाच्य का निवेश कर सकते हो, किन्तु अवाच्य को वस्तु भी मानते हो। हम इस प्रकार की वस्तु का निषेध करते हैं।

तुम कहते हो कि पुद्गल नामक वस्तु सर्वदा रहती है। यदि सर्वदा रहती है तो वह नित्य हो जायेगी और नित्य कोई वस्तु नहीं हुआ करती है। जो स्वभाव सर्वदा रहता है, उसका विनाश नहीं होता और जिसका विनाश नहीं होता, वह नित्य है। जैसे कि कहा है—“जो स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता, उसे नित्य कहते हैं।”² यदि पुद्गल नामक वस्तु को सर्वदा रहने वाला नहीं मानते हो, तो वह अनित्य हो जायेगा, क्योंकि जिसका स्वभाव

1. अनित्यत्वेन योऽवाच्यः स हेतुर्न हि कस्यचित्। (प्र० वा० 1.205)

2. नित्यं तमाहुर्विद्वांसो यः स्वभावो न नश्यति। (प्र० वा० 1.206)

सदा नहीं रहता, उसे अनित्य कहा जाता है। अतः वस्तु की क्षणिक एवं अक्षणिक अवस्था से भिन्न तीसरी कोई गति नहीं होती है। अक्षणिक का क्रम-युगपत् दोनों प्रकार से अर्थक्रिया के साथ विरोध होता है। क्षणिकत्व (व्यापक) से अर्थक्रिया लक्षण सत्त्व (व्याप्त) है और पुद्गल में क्षणिकता की निवृत्ति होने से सत्त्व की भी निवृत्ति हो जायेगी।

इस पर वात्सीपुत्रीय का कहना है कि—यदि पुद्गल को नहीं मानोगे, तो आगम से विरोध हो जायेगा। इस पर वे भगवान् का वचन प्रस्तुत करते हैं—“स जीवस्तच्छरीरमन्यो जीवोऽन्यच्छरीरम्”¹ ऐसा पूछे जाने पर भगवान् ने उसे अव्याकृत कहा। भगवान् ने अन्य या अनन्य ऐसा स्पष्ट क्यों नहीं कहा?

आचार्य का कहना है कि यदि “पुद्गल धर्मी” सिद्ध हो जाए तो उसमें तत्त्व, अन्यत्व आदि धर्म का व्याकरण किया जा सकता है। वह धर्मी ही सिद्ध नहीं हो, तब कैसे उसे तत्त्व और अन्यत्व आदि रूप में कहा जायेगा। जैसे—खपुष्प, बन्ध्यापुत्र का होना या न होना नहीं कह सकते। खरविषाण के अनुपलब्ध होने पर उसके तीक्ष्ण या कुटिल होने का प्रश्न ही अनुचित है। इसका उत्तर देना व्यर्थ होगा, इसी प्रकार भगवान् ने भी पुद्गल को प्रज्ञप्ति सत् कहते हुए अव्याकृत किया। “नहीं है”, ऐसा इसलिए नहीं कहा, क्योंकि प्रश्नकर्ता ने धर्मी पुद्गल नहीं पूछा था। उसने तो तत्त्व है या अन्यत्व है, ऐसा प्रश्न किया था।

अथवा प्रज्ञप्ति सत् का व्यवहार में अस्तित्व होता है, उसका अभाव नहीं होता, अन्यथा उच्छेद हो जायेगा। उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं होती है, इस अभाव की वजह से शून्यता देशना के प्रति लोगों में अरुचि न हो जाए और वे सद्धर्म के प्रति उपेक्षा न करने लगे, इसलिए विनेय जनों के आशय की अपेक्षा से भगवान् ने “नास्ति” भी नहीं कहा। माध्यमिक परमार्थतः भाव नहीं मानते और व्यवहारतः अभाव भी नहीं मानते हैं। आचार्य वसुबन्धु आदि ने अभिधर्मकोश, परमार्थ-सप्तति आदि ग्रन्थों में भगवान् के इस अव्याकृत अभिप्राय को अत्यन्त स्पष्ट किया है।

1. दीघ निकाय, 1/7, (जालियसुत्त), पृ० 136, ना० दे० पालि सीरीज, 1958;
 द्र० - अभि० को०, 5/2 पृ० 800-801, बौ० भा० प्र०, 1987; धर्मसंग्रह (म० सू० सं०), पृ० 339;
 बुद्धावतंसक-नाम-महायानसूत्र, ‘क’ पुट् पृ० 338, भो० सं०; माध्यमिककारिकावृत्ति, 22.12, पृ० 194, बौ० भा० प्र०, 1983

वात्सीपुत्रीय कहते हैं कि यदि ऐसा है तो, भगवान् के “अस्ति सत्त्व उपपादुकः”¹ इस वचन का अर्थ किस प्रकार ग्रहण किया जाय?

इसके उत्तर में भगवान् ने कहा कि उपपादुक सत्त्व होते हैं। तब उन्हें ऐसा लगा कि हम जैसा मानते हैं, वैसा ही भगवान् भी मानते हैं, अतः उनके प्रति श्रद्धा बढ़ी और वे उनकी शरण में आ गये। यदि भगवान् कहते कि सत्त्व नहीं है तो उनकी भगवान् के उपदेश के प्रति अरुचि हो जाती और वे वहाँ से चले जाते। अतः उपायकुशल भगवान् ने ऐसा बीच का रास्ता निकाला कि धर्मोपदेश के प्रति उन्हें श्रद्धा उत्पन्न हो गई। अनन्तर वे भगवान् का उपदेश सुनते-सुनते इस बात को सहन करने योग्य हो गये कि उपपादुक सत्त्व प्रज्ञप्तिस्त् हैं, व्यवहारमात्र होते हैं। उनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं होती।

चित्त सन्तति में सत्त्व प्रज्ञप्त होते हैं, उस चित्त सन्तति की अविच्छिन्नता को ध्यान में रखकर भगवान् ने सत्त्व के होने की बात कही। अन्यथा संस्कारों की अनवरत कार्यकारण परम्परा का भी अभाव हो जायेगा। तब परलोक जाने वाले का भी अभाव हो जायेगा। ऐसा होने पर परलोक असिद्ध हो जायेगा और विनेयजन नास्तिक दृष्टि वाले हो जायेंगे।

वात्सीपुत्रीय अपने वचन की प्रामाणिकता के लिए भगवान् के भारहारसूत्र का उल्लेख करते हुए कहते हैं, यथोक्तम्—“भारं वो भिक्षवो देशयिष्यामि भारादानं भारनिक्षेपं भारहारं च। तत्र भारः पंचोपादानस्कन्धाः, भारादानम् तृष्णा, भारनिक्षेपः मोक्षः, भारहारः पुद्गलाः”²

1. दीघ निकाय, भाग-2, महावग्ग, 10.2.6;

रूपाद्यायतनास्तित्वं तद्विनेयजनं प्रति ।

अभिप्रायवशादुक्तमुपपादुकसत्त्ववत् ॥

यथा ‘अस्ति सत्त्व उपपादुकः’ इत्युक्तं भगवता अभिप्रायवशाच्चित्तसन्तत्यनुच्छेदमायत्यामभिप्रेत्य। “नास्तीह सत्त्व आत्मा वा धर्मास्त्वेते सहेतुकाः”। एवं रूपाद्यायतनास्तित्वमप्युक्तं भगवता तद्देशनाविनेयजनमधिकृत्येत्याभिप्रायिकं तद्वचनम्।

—(वि० मा० सि० - 8 का०, पृ० 34, सं० सं० वि० वि०, 1972), द्र० - अभि० को०, पृ० 1207, बौ० भा० प्र०, 1987

- 2.

भारा हवे पञ्चस्कन्धा भाराहारो च पुद्गलो ।

भारादानं दुखं लोके, भारनिक्षेपनं सुखं ॥

इसका अर्थ कैसे लगाओगे? क्योंकि पुद्गल न होने पर भार (पंचस्कन्ध) ही भारहार कैसे युक्त हैं? आचार्य इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि समानकालिक पंचस्कन्ध ही सम्मिलित रूप से समूह कहलाते हैं। वे ही पूर्वक्षण में हेतु तथा अपर क्षण में फल होते हैं। हेतु-फल भाव से समानकालिक धारा सन्तान कही जाती है। ये पाँचों स्कन्ध, जो समान काल में होते हैं, वे हमारे एकाकार बोध का हेतु हो जाते हैं, तब पंचस्कन्ध सन्तानी, समुदायी कहलाने लगते हैं। समुदाय आदि के अभिप्राय से भगवान् द्वारा भारहार की देशना की गयी है। यदि समुदाय को पुद्गल मान लेते हैं, तो वही भारहार हो जायेगा। इसलिए भगवान् की देशना विरुद्ध नहीं होती है। मूल श्लोक में प्रथम 'आदि' शब्द से सन्तान, द्वितीय 'आदि' से भारहार आदि (भार, भारादान, भारनिक्षेप, भारहार) का ग्रहण होता है।¹ वे पाँच स्कन्ध ही समुदाय और सन्तान के रूप में विवक्षित हैं और उन्हें पुद्गल, भारहार शब्द से व्यवहृत किया गया है। लोक में पाँच स्कन्धों को ही पुद्गल कहा जाता है। इसलिए भगवान् ने—“भारहार कौन हैं? पुद्गल, ऐसा कहकर पंचस्कन्ध में प्रज्ञप्तसत् पुद्गल को एवं नामा, जाति गोत्र, आहार आदि इस प्रकार के दुःख-सुख का प्रतिसंवेदन करने वाला, दीर्घायु आदि कहा है।” स्कन्ध समुदाय प्रज्ञप्तिसत् है, इससे अन्य नित्य द्रव्यसत् पुद्गल नहीं होता है, इस अभिप्राय से भारहारसूत्र की देशना की गई है, ऐसा समझना चाहिए। ऐसा न मानने पर पुद्गल के समान, भारादान, भारनिक्षेप भी पंचस्कन्ध हो जायेंगे, जबकि इन्हें तृष्णा और मोक्ष माना जाना चाहिए।

अतः उन पाँच स्कन्धों को जो दूसरे पाँच स्कन्धों को उत्पन्न करने के लिए पूर्वगामी (हेतुभूत) होते हैं, वे भार कहे गये हैं। जो फलभूत हैं, वे भारहार हैं। इस कथन से तुमने जो भारहारसूत्र को पुद्गल का ज्ञापक कहा था, वह असिद्ध हो गया।

आचार्य शान्तरक्षित ने युक्तिपूर्वक सभी प्रकार से वात्सीपुत्रीय पुद्गल की अवाच्यता का निषेध किया है। उनके अनुसार पुद्गल को वस्तुसत् मानने पर पुद्गल की

निखिपित्वा गरं भारं, अज्जं भारं अनादिय ।

समूलं तण्हमब्बुह, निच्छातो परिनिब्बुतो 'ति ॥

—संयुक्त निकाय, खन्धवग्गो, 22सू०, पृ० 261, नालन्दा देवनागरी पालि सीरीज, 1959; द्र० - अभि० को० (पुद्गल-विनिश्चय), पृ० 1206, बौ० भा० प्र०, 1987

1. समुदयादिचित्तेन भारहारादिदेशना ।

विशेषप्रतिषेधश्च तद्दृष्टीन् प्रति राजते ॥

(349 का०, त० सं० भाग-1, बौ० भा० प्र०, 1981)

अवाच्यता कदापि सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि वस्तु तत्त्व एवं अन्यत्व से परे नहीं हो सकती है। वह नित्य अथवा अनित्य में से एक होगी, वस्तु कदापि नित्य नहीं हो सकती है और अनित्य वस्तु क्षणिक होती है तथा अवाच्यपुद्गल के क्षणिक होने पर अकृताभ्युपगम एवं कृतविप्रणाश दोष का प्रसंग होने लगेगा। वस्तु न मानने पर भी यदि वह नित्य नहीं है तो उसे प्रज्ञप्तिस्त होना चाहिए। प्रज्ञप्तिस्त व्यवहारमात्र होता है, उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं होती। किन्तु वात्सीपुत्रीय अनित्यत्वेन एवं नित्यत्वेन पुद्गल को अवाच्य मानते हैं तथा द्रव्यसत् मानते हैं और इसके लिए वे भगवान् के वचनों का सहारा लेते हैं, जिसका आचार्य ने कुशलतापूर्वक निरास करते हुए वस्तुसत् अवाच्य-पुद्गल का निषेध किया है।

•

तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (4)

—छेरिंग डोलकर—

[धीः के पूर्व अंकों में आचार्य बुस्तोन द्वारा रचित “सामान्य एवं संक्षिप्त तन्त्रोपन्यास रत्ननिधि-द्वारोद्घाटक कुञ्जी” नामक भोट ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद दिया गया है, उसी क्रम में इस अंक में तन्त्रों की विशेषता के अन्तर्गत मार्गाभिसमय, पालनीय ‘समय’ एवं तन्त्रों के स्वभाव निर्धारण पद्धति का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है।]

ग. II. चर्यातन्त्र—चर्यातन्त्र में तन्त्र की सेवा (उपासना) के तीन हेतु हैं—I. प्रवेशचर्या, II. योगचर्या, और III. सिद्धिचर्या।

ग. II.I. प्रवेशचर्या—बाह्य और आभ्यन्तर भेद से प्रवेश चर्या के भी दो भेद हैं।

ग. II.I.I. बाह्यप्रवेशचर्या—मण्डल में प्रवेश कर अभिषेक लेना और ‘समय’ तथा ‘संवर’ का पालन करना बाह्य प्रवेशचर्या है।

ग. II.I.II. आभ्यन्तर प्रवेशचर्या—साधक के सनिमित्त और अनिमित्त चित्ताधार के भेद से भाव्य दो प्रकार के होते हैं। वैरोचनाभिसम्बोधि (तो० 494) में कहा है—“सनिमित्तेन सनिमित्ता सिद्धिरुपजायते। अनिमित्तेनानिमित्ता सिद्धिरिष्टा....”¹ (सनिमित्त से सनिमित्त सिद्धि तथा अनिमित्त से अनिमित्त सिद्धि होती है।) इस प्रकार सनिमित्त और अनिमित्त दोनों (सिद्धियों) में से अनिमित्त चित्त द्वारा (सिद्धि) को वहीं (वैरोचनाभिसम्बोधि) ऐसा कहा है—

“इस मण्डल के दर्शन से, ‘समय’ को जानने वाला है,
उसे मुद्रा नहीं दिखानी चाहिए और मन्त्र भी नहीं देना चाहिए।
विशिष्ट बोधिचित्त द्वारा मन्त्र और मुद्रा को परिग्रहण करें”।

यह सामान्य (सिद्धि) है, विशिष्ट सिद्धि में—

“तथागतगर्भ साधन अवस्था में, जब तक निमित्त प्रकट न हो,
उद्यान, विहार, गुफा अथवा जहाँ भी चित्त-विवेक हों,
वहीं बैठकर बोधिचित्त की भावना करनी चाहिए”।

निमित्त (क अर्थ) है—सभी धर्मों के निःस्वभावता ज्ञान का यावद् इच्छा चित्त समाधि में स्थिर होना। वहीं (वैरोचनाभिसम्बोधि) कहा है—

“प्रयत्नपूर्वक शिष्य बोधिचित्त के द्वारा परिशुद्धि करे।

जब आलम्बनों पर (से) शिष्य कभी भी विक्षिप्त नहीं होता,
उस समय (चित्त) आकाश सदृश निर्मल और परिशुद्ध हो जाता है।”

ऐसा निमित्त उत्पन्न होने तक भावना करे।

भावना पद्धति—काय, छह चित्तगण (षट् विज्ञान) और ग्राह्यग्राहकाकार विज्ञान चित्त इन तीनों का क्रमशः परमार्थतः अनुत्पन्न मायासदृश का श्रवण, चिन्तन और भावना तीनों द्वारा अभ्यास से अनिमित्त समाधि शून्यता का अधिगम होता है। वहीं (वैरोचनाभिसम्बोधि में) कहा है—

“अतः सभी आकारों में सदा शून्यता का स्मरण करना चाहिए”।

इसकी अनुशंसा में वहीं (वैरोचनाभिसम्बोधि में) कहा है—

“जब अनिमित्त समाधि का यथार्थ स्पर्श (ज्ञान) होता है,
उस समय मन्त्री (साधक) मनोद्भव-सिद्धि को सम्यक्तया प्राप्त करता है।”

सनिमित्त (समाधि) भी वहीं (वैरोचनाभिसम्बोधि) कहा है—

“अक्षर से अक्षर का योग, उसी प्रकार आधार से आधार का,
अत्यधिक प्रतिबन्धित मन से, एक लाख (बार) जाप करे।
(पहला) अक्षर बोधिचित्त है, दूसरा (अक्षर) शब्द (ध्वनि) है।
आधार तो आत्म-देव स्थापना है,
(अर्थात्) अपने शरीर की अवस्था को कहा है।

दूसरा आधार तो सम्यक्संबुद्ध है,
(अर्थात्) द्विपदों (मनुष्यों) में श्रेष्ठ (बुद्ध) को जानना चाहिए।
मन्त्री उस विशुद्ध चन्द्रमण्डल में, स्थित (बुद्ध) का चिन्तन करे।
अक्षरों को क्रमशः, उसके मध्य सुव्यवस्थित रूप से न्यास करे।
पुनः संहरण शब्द के द्वारा आक्रान्त कर, प्राणायाम का विशोधन करे।
प्राण को वायु कहा जाता है, आयाम को स्मरण।
इन दोनों के योग के पश्चात् सर्वप्रथम अच्छी तरह से सेवा (आदि) करे।”

इस प्रकार प्रथमतः आत्म और स्थान की रक्षा आदि करने के बाद प्रथमाक्षर बोधिचित्त शून्यता की भावना करे। दूसरा अक्षर मन्त्र ध्वनि (शब्द) के रूप में उत्थान होता है। प्रथम आधार अपने शरीर को बुद्धकाय के रूप में उत्पन्न कर, मन्त्र और मुद्रा आदि के द्वारा अधिष्ठित करें। दूसरा आधार (अपने) सामने बुद्धकाय को उत्पन्न कर, हृदय में चन्द्रमण्डल के ऊपर मन्त्र की माला न्यास कर उसमें समाधि को स्थिर करना है। इस प्रकार सनिमित्त और अनिमित्त (समाधि) सामान्य प्रवेश (चर्या) में भी कहा है।

ग. II.II. योगचर्या—इस प्रकार बाह्य और अध्यात्म प्रवेशचर्या को अच्छी तरह से करने के पश्चात् योगचर्या (प्रारम्भ करने से) पूर्व सेवा के लिए जाप के सनिमित्त और अनिमित्त दो प्रकार के हेतु हैं—

ग. II.II.I. सनिमित्त योगचर्या—पूर्वोक्त की भाँति चार अङ्गों सहित प्राणायाम को साधकर एक लाख जप करने को बाह्य जाप कहा जाता है। स्वयं को शाक्यमुनि बुद्ध के काय में उत्पन्न कर, स्वयं एवं बुद्ध को अद्वयरूप में मानते हुए चित्तचन्द्र में वैरोचन बुद्ध को उत्पन्न कर, उस चित्त चन्द्रमा पर मन्त्र का न्यास कर जाप करना अध्यात्म (आभ्यन्तर) जाप है।

ग. II.II.II. अनिमित्त योगचर्या—स्व-देवधर्म लक्षण को अनिमित्त समाधि के अभ्यास द्वारा जप करना (जाप द्वारा सिद्ध करना) इस प्रकार है—पूर्वोक्त का साक्षात्कार करके, देवकाय और स्वयं के अद्वय वर्णादि के परिकल्पित स्वभाव के आभास को सम्यक्तया परीक्षण करने से जैसे यथार्थ का अवबोध होने की तरह चित्त स्वसंवेदन मात्र है तथा स्व-देव के रूपकाय को निःस्वभाव और निराभास जानकर यथासम्भव मन में जाप करना चाहिए। वहीं (वैरोचनाभिसम्बोधि में) कहा है—

“चित्त से लोकोत्तर को जानना चाहिए,
पुनः संहरण आदि का परित्याग कर
(स्वयं को) देव से एकीभूत कर और अभिन्न ग्राहक-
चित्त के स्वभाव से एकाकार जानना चाहिए।
अन्यत् कुछ और नहीं करना चाहिए।”

ग. II.III. सिद्धिचर्या—योगचर्या सम्पन्न करने के बाद सिद्धि साधन चर्या करनी चाहिए। बाह्य और आभ्यन्तर भेद से यह भी दो प्रकार की है।

ग. II.III.I. बाह्यसिद्धि-साधनचर्या—बाह्यसिद्धि साधन (के लिए) मण्डल लिखें। खड्ग आदि द्रव्यों को लेकर (उस पर) जाप करने से, उन द्रव्यों के जलते ही हाथ में लेने से विद्याधर आदि की सिद्धि होती है।

ग. II.III.II. आभ्यन्तरसिद्धि साधनचर्या—अन्तस्थ वायु के अग्नि, वायु, जल और भू-मण्डल के अभ्यास से चित्त पर आश्रित आभ्यन्तरसिद्धि, पाँच अभिज्ञा और साथ में होने वाली सनिमित्तसिद्धि भी सिद्ध होती है। जैसे—

“जिसे बोधिचित्त प्राप्त हुआ हो, उसे अन्य सिद्धि की क्या आवश्यकता,
उसे अन्य पाँच प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती ही हैं।
चर्या का अनुशीलन करना तथा भूमि की प्राप्ति,
पाँच प्रकार की लौकिक अभिज्ञा और बुद्धत्व प्राप्त होना,
और अन्य जो भी हो (प्राप्त ही हैं)”।

ग. III. योगतन्त्र—आचार्य आनन्दगर्भ योगतन्त्र को I. फल, II. फल प्राप्ति का उपाय, III. उपाय का प्रवेश द्वार IV. और प्रवेश योग्य पुद्गल इन चार भेदों में संगृहीत मानते हैं। तत्त्वालोक¹ (तो० 2510) में कहा है—

“इस प्रकार वैरोचन महावैरोचन कहने से,
ऐसा विकल्प होता है कि स्वार्थ और परार्थ संपत्
(सम्पन्न) फल लक्षण वाले भगवान् कैसे प्राप्त होंगे?
(तब) उस स्वभाव का साक्षात्कार करने के लिए,
'अथ' इत्यादि के द्वारा उस फल को प्राप्त करने के लिए
(योग) तन्त्र को कहा गया है।”

और भी (कहा है)—

“जिन लोगों ने अभिषेक का 'समय' प्राप्त किया हो,
उन्हें उस उपाय में प्रवेश करना चाहिए।”

इसे बतलाने के लिए 'इत्यादि' कहा है। अतः इस में प्रवेश के क्रम को बताया जा रहा है—

1. सर्वतथागततत्त्वसंग्रहमहायानाभिषमय नाम तन्त्रतत्त्वालोककरी नाम व्याख्या ।

ग. III.I. प्रवेश योग्य पुद्गल— वज्रशेखर(तन्त्र) (तो० 480) में कहा है—

“इस लोक में चार पुद्गलों द्वारा हजारों कल्पों तक अत्यन्त प्रयास से साधना करने पर भी (बुद्धत्व) सिद्ध नहीं होता (क्योंकि) बोधिचित्त के पैदा नहीं होने से, संशय युक्त होने से, आज्ञा का अनुपालन नहीं करने तथा श्रद्धा विहीन होने से (यह) सिद्ध नहीं होता”।

अतः (पुद्गलों को) महा श्रद्धावान्, ‘समय’ एवं ‘संवर’ के पालन में समर्थ, धर्म में विश्वास और बोधिचित्तोत्पाद से युक्त होना चाहिए। यहाँ समान-चर्या करने वाले तथागतकुल के पुद्गल, अधिक द्वेष वाले क्रोध-कुल के पुद्गल, अधिक राग (चर्या) वाले तथागत-कुल अर्थात् वज्रधर-कुल के पुद्गल, अधिक मोह वाले पद्म-कुल के पुद्गल तथा अधिक मात्सर्य वाले मणि-कुल के पुद्गल होते हैं।

ग. III.II. उपाय का प्रवेशद्वार—अभिषेक और ‘समय’ को प्राप्त करना इन पुद्गलों के लिए उपाय में प्रवेश के लिए द्वार है। (अतः) पूर्वोक्त सेवा से लेकर ‘समय’ ग्रहण करने तक आचार्य कर्मविधि है। (मण्डल) प्रवेश करने के बाद से पुनः विसर्जन तक शिष्य प्रवेश आदि दोनों विधियों से (चित्त) सन्तति को परिपक्व करता है, वह भी स्व-स्व कुलानुरूप मण्डल में प्रवेश करना और विस्तृत, मध्यम और संक्षिप्त आशय के अनुसार विस्तृत मण्डल, चार मुद्रा और एक मुद्रामण्डल आदि में प्रवेश कर अभिषेक प्राप्त करता है।

ग. III.III. फल प्राप्ति का उपाय—जैसे—“अभिषेक और समय प्राप्त होने पर जप और भावना करनी चाहिए”। इस प्रकार व्याख्यायित होने से उपाय के तीन (भेद) हैं— I. साधारण उपाय, II. अतीत सिद्धियों को साधने वाला तीक्ष्णेन्द्रिय सत्त्व को अनुग्रह करने वाला उपाय और III. भावना से त्रसित कर्मों पर अभिनिवेश वाले मन्द इन्द्रिय सत्त्वों को अनुग्रह करने वाला उपाय।

ग. III.III.I. साधारण उपाय—इसके अन्तर्गत तीन प्रकार की श्रेष्ठ उपाय समाधियाँ हैं—1. आदियोग, 2. मण्डलराजाग्री और 3. कर्मराजाग्री। तत्त्वालोक (तो० 2510) में कहा है—

“यहाँ उपाय का भेद कहूँगा, यहाँ भी साक्षात् उपाय समाधि ही है।”

तीन समाधियों की भावना करने में असमर्थ शिष्यों के लिए योग, अनुयोग, अतियोग और सर्वयोग की भावना है। जैसे श्रीपरमाद्यटीका (तो० 2512) में कहा है—

“पाँच प्रकार के तत्त्वों की भावना से, स्व देव (इष्टदेव) को उत्पन्न कर भावना करना योग है। ज्ञानसत्त्व को प्रविष्ट कर उसके साथ एकीभूत ऐसा अध्याशय होना अनुयोग है। चराचर सभी रूपों के स्वभाव में आत्म-भावना करना सर्वयोग है। योग, अनुयोग और सर्वयोग के स्वरूप की भावना करने से जो चित्त की एकाग्रता होती है वह अतियोग है”।

आचार्य के अनुसार महायोग और महायोग के हृदय में मण्डल की भावना करना है। जैसे तत्त्वालोक (तो० 2510) में कहा है—“शिष्यों को योग और अनुयोग बतलाकर आचार्य-मण्डल की साधना और स्वाधिदेव साधना की महायोग विधि को बतलाना चाहिए”। इनके द्वारा उत्तम, मध्यम और अधम सिद्धियाँ सिद्ध होती हैं।

ग. III.III.II. तीक्ष्णेन्द्रिय सर त्रों को अनुग्रह करने वाले उपाय—अपने-अपने समय में प्रतिष्ठित होकर प्रतिबिम्ब के सदृश जानकर पूजा, मुद्रासाधन तथा विश्वस्त होकर साधना करनी है। (फिर) लक्षण प्राप्त (उदित) होने पर अभिज्ञा सिद्ध करनी है। बुद्ध आदि का वेश धारण कर व्रत द्वारा सभी कुलों को तुष्ट कर और (उन्हें) वश में कर साधना करनी है। सात बार साधना करने पर भी सिद्ध न हो तो देव मारण विधि से (साधना करने पर) सिद्ध होता है।

ग. III.III.III. मन्देन्द्रिय सत्त्वों को अनुग्रह करने वाले उपाय—मण्डल दर्शन काल का निर्णय, मन्त्रजाप की संख्या, पट, पञ्चोपहार आदि की पूजा, मुद्रा पूजन और पर्यङ्क आसन इत्यादि का निर्णय द्वारा जाप के दो भेद हैं—1. शब्द जाप और 2. वज्रजाप।

ग. III.III.III.I. शब्द जाप—स्वकुल के सपर्यङ्क स्व-सदृश देव की (अपने) सामने भावना करे। वाम हस्त की मुष्टि द्वारा चीवर धारणाभिनय से देव आयुध को ग्रहण करे। दक्षिण हाथ से स्वकुल की माला को हृदय की ओर धारण कर तथागतकुल में निश्शब्द, वज्रकुल में मेघ गर्जन जैसा, पद्मकुल में सूक्ष्म तथा स्पष्ट (ध्वनि), रत्नकुल में अत्यन्त स्पष्ट (ध्वनि) जाप करने से पट एवं द्रव्य आदि की सिद्धियाँ सिद्ध होती हैं। जैसे तत्त्वसंग्रह (तो० 479) में कहा है—

नातिस्पन्दितजिह्वाग्रदन्तोष्ठद्वयसंयुता ।

साधयेत्सर्वकल्पान्तु वज्रवाक्स्वरवर्जिते ॥ (पृ० 208)

(“जिह्वाग्र को बिल्कुल न हिलाते हुए, दाँत और ओष्ठ दोनों को मिलान कर, स्वर (ध्वनि) रहित वज्रवाक् (जपमन्त्र) से सभी कल्पों में सिद्धियों को सिद्ध करना चाहिए।”)

और भी—

“मेघघूर्णित-हूँकार” (पृ० 208)। (हूँ इत्यादि से मेघ गर्जन ध्वनि करता हुआ)।

ग. III.III.III.II. वज्रजाप—आचार्य बुद्धगुह्य ने (इसके) दो भेद बतलाये हैं—1. संवृति सालम्बन योग और 2. परमार्थ प्रज्ञापारमिता योग।

ग. III.III.III.II.I. संवृति सालम्बन (योग)—(साधक का) जो भी अपना कुल है, उसी कुल के देवता का उत्पाद कर कुलानुरूप मुद्रा का न्यास करे। (अपने) सामने भी उसी प्रकार ध्यान कर, स्पष्ट वर्ण और आकार का दीर्घकाल तक अवलोकन करे। कुलानुरूप अवलोकन करने मात्र से हर प्रकार से समान अनुराग द्वारा ध्यान करे। कुलानुरूप ध्यान का अनुस्मरण करते हुए वायु को भीतर संहरणाभिनय से इन्द्रिय गण को भीतर संहरण करे। जाप्य हृदय (मन्त्र) के अर्थ की भावना करते हुए, जो (भी अपना) देव है उसके हृदय (मन्त्र) का जाप करे। पुनः मन को बहिर्मुख कर (अपने) सामने (स्थित) देव में लक्षण (चिह्न) उत्पन्न होने तक जाप करे। पुनः वायु और मन को भीतर संहरण कर प्राण और इन्द्रिय को निरुद्ध कर स्व और देव के अभिन्न रूप का यथेच्छा आलम्बन करते हुए (उसके) हृदय (मन्त्र) का जाप करे। वहीं (तत्त्वसंग्रह) कहा है—

“हृदय (मन्त्र), विद्यामन्त्र या मुद्रा का अर्थ सहित जाप और साधना करे तो, आत्म (स्व) हो या (कोई) भी सत्त्व, भावना करे तो सिद्ध होगा”।

इस प्रकार वज्रशेखर आदि में जो कहा है, उसे भी जानना चाहिए।

ग. III.III.III.II.II. परमार्थ पारमिता योग—पहले की तरह स्वयं तथा अपने सामने देव को उत्पन्न करे। स्व, देव और मन्त्राक्षरों के उत्पन्न न होने तक की भावना इस प्रकार है—सर्वधर्म शून्यता की भावना करके चित्तावस्था-प्राणायाम दोनों को भीतर ही निरुद्ध करे। फिर रूप आदि को कहीं भी बिना ग्राहक चित्त के स्वयं, देवता और मन्त्राक्षरों में आकाश सदृश मनसिकार करते हुए स्वदेव के धर्मकाय पर श्रद्धा से मन के अन्दर जाप

लक्षण द्वारा जप करना चाहिए। श्वास को बाहर छोड़ते (निःश्वास) समय नासा के अन्दर स्थित सूक्ष्म वायु की वेदना को अनुभव करना है। जैसे श्रद्धा (अधिमुक्ति) का लक्षण, स्व और देवकाय का स्मरण करना। पुनः क्रमशः प्राण भीतर संहरण प्रक्रिया में आकाश सम (सदृश) आलम्बन समाधि द्वारा प्राण में स्थित चित्त को ग्रहण कर बाँधते हुए अन्दर ही शान्त कर समस्त प्रत्याभासों से रहित होकर जाप करना चाहिए। वहीं (तत्त्वसंग्रह) कहा है—

अ-अक्षरप्रवेशेन सर्वाक्षरविभावना ।

स्ववक्त्रं परवक्त्रं तु भावयन् सिद्धिमाप्नुयात् ॥ (पृ० 204)

(“अकार में प्रवृत्त होने वाले समस्त अक्षरों की भावना करे,
अपने मुख से परमुख में भावना करने से सिद्धि प्राप्त होगी”।)

इस प्रकार सविकल्प प्रज्ञा को प्रमुखता से कहा है। स्वयं और मन्त्राक्षरों को अनात्म मानकर, आकाशसम आलम्बन कर निर्विकल्प रूप में कहीं भी स्थापित कर मन में जाप करें। वहीं (तत्त्वसंग्रह) कहा है—

प्रज्ञा नैर्वैधिकी नाम समाधिरिति कीर्तिता ।

तथा तु मुद्राः सिध्यन्ते भावयन् सिद्ध्यति क्षणात् ॥ (पृ० 204)

(“प्रज्ञा नैर्वैधिकी नामक समाधि प्रख्यात है,
उसकी मुद्रा की साधना करनी चाहिए,
भावना करने से शीघ्र सिद्धि मिलती है।”)

इन तीन उपायों द्वारा साधना करने पर इसी अवस्था (जन्म) में धनसिद्धि, विद्याधर, अभिज्ञा आदि से प्राप्त होने वाले सभी प्राप्तव्य फल भी उपाय के अन्तर्गत आते हैं। क्योंकि निदान (उपोद्घात) के बाद तन्त्र के सभी विषयों को उपाय के अन्तर्गत ही कहा गया है।

ग. III.IV. फल—दो अर्थों से परिनिष्ठित चतुःकायात्मक बुद्ध का सिद्ध होना (फल है)।

ग. IV. अनुत्तरयोग(तन्त्र)—अनुत्तरयोग के तीन भेद हैं। जैसे आचार्य शाक्यमित्र विरचित चर्यासमुच्चय(प्रदीपनाम)टीका (तो० 1834) में कहा है—

“राजा बली गर्भ ने, पूर्वगामी सम्बन्ध को तीन अर्थों—

I. हेतु, II. उपाय और III. फल में संगृहीत कर कहा है।

हेतु तो महायानी कुल वाले हैं, जो कुशल धर्म से विभूषित हैं।

उपाय दो प्रकार के हैं, अभिषेक और तत्त्वचर्या सहित।

फल तो त्रि-साधारण काय सिद्धि है।”

ग. IV.I. हेतु—हेतुतन्त्र का स्वभाव सभी कुलों के सत्त्वों में अभिन्न रूप से स्थित होने पर भी विशेषकर उपहेतु महायान में प्रवेश के लिये हीन और श्रेष्ठ (परम) भाग्य वाले दो पुद्गल हैं। हीन पुद्गल यान (महायान) में क्रमशः बुद्धिशोधन कर मन्त्रनय में प्रवेश के योग्य बनता है, जबकि श्रेष्ठ पुद्गल (अपने) पूर्व संचित पुण्य के बल से युक्त (होकर मन्त्रनय में प्रवेश करता) है, न कि क्रमशः बुद्धिशोधन की अपेक्षा से।

ग. IV.II. उपाय—संक्षेप में (उपाय को) विपाक और मुक्ति दो में संगृहीत किया जाता है, परन्तु पाँच विभाजन हैं—I. विपाककर्ता अभिषेक विधि, II. परिपक्व के लिए अविप्रणाशक समय पालन विधि, III. लक्षणज्ञ के लिए शिक्षण विधि, IV. बोधिसाधक चित्तशोधन विधि और V. उसमें पारंगत अङ्ग चर्या विशुद्धि विधि। जैसा कि सुभग वज्र विरचित महायानपथक्रम (तो० 3717) में कहा है—

“चित्तोत्पाद, संवर ग्रहण और अभिषेक लेना,
इनका (बोधिचित्त, संवर और अभिषेक) पालन,
लक्षणों का ज्ञान, चित्तशोधन और चर्या शुद्धि,
पाँच विधियों के लक्षण हैं।”

ग. IV.II.I. विपाककर्ता अभिषेक विधि—लक्षणों से युक्त शिष्य को आचार्य से (अभिषेक के लिए) प्रार्थना करना और आचार्य द्वारा पूर्व में शिष्य को दिए गए सेवा विधि, भूमि विधि, समन्तक, मण्डल साधना और पूजा विधियों को पूर्वङ्गम कर मण्डल में प्रवेश करने से पूर्व चित्तोत्पाद करके संवर ग्रहण करना। (फिर) मण्डल में प्रवेश करते हुए क्रमशः या सकृत् (एक साथ) अभिषेक पूर्ण रूप से प्राप्त करने से (अपना) स्वभाव (=सन्तति) विशुद्ध और परिपक्व हो जाता है।

ग. IV.II.II. परिपक्व के लिए अविप्रणाशक समय पालनविधि—सर्वसमयसंग्रह में आचार्य अतीश (दीपंकर) ने कहा है—

“ये ‘समय’ कौन से हैं बतलाएं तो, आश्रय, तन्त्र, मूल, स्वभाव, निरुक्ति, काल, पर्याय, पादसंख्या, संख्या, संकेत, मार, शत्रु, क्षति प्रमाण, पूर्ण करना, अक्षत लक्षण, परिणामना, गणना, पूरण, संक्षिप्त समय, क्षतिदोष, अक्षतानुशंसा और फल (ये समय) हैं।”

इस प्रकार ठीक से समय का पालन करते हुए यदि समय से च्युत हो जाए तो पुनः पोषण करने के उपाय का प्रयास करना चाहिए।

ग. IV.II.III. लक्षणज्ञ के लिए शिक्षण विधि—बोधिसत्त्व को मन्त्रचर्या में आचरण करने के लिए तीन यानों में निपुण होना आवश्यक है। विशेषकर मन्त्र(नय) के नेयार्थ-नीतार्थ के अभिप्राय में विद्वान् (कुशल) होना आवश्यक है। यदि कुशल न हो तो साधारण और श्रेष्ठ (परम) सिद्धि सिद्ध नहीं होती। जैसे चतुर्देवीपरिपृच्छा (तो० 446) में कहा है—

चतुरशीतिसाहस्रे धर्मस्कन्धे महामुनेः ।

तत्त्वं वै ये न जानन्ति सर्वे ते निष्फलाय वै ॥¹

(महामुनि के धर्म के चौरासी हजार धर्मस्कन्धों को जो तत्त्वतः नहीं जानते, वे सब (उनके लिए) निरर्थक अर्थात् निष्फल हैं।) अतः अद्वय-युगनद्ध तत्त्व के अभिप्राय पर कुशलतापूर्वक शिक्षित होना चाहिए।

ग. IV.II.IV. बोधिसाधक चित्त शोधनविधि—इसे सुभगवज्र ने पाँच अङ्गों में (विभाजित कर) बतलाया है—I. (चित्त) सन्तति में मार्ग उत्पत्ति, II. उसका (उत्पत्ति मार्ग का) विषय, III. प्रहेय, IV. प्रहाण उपाय और V. प्रहाण फल।

ग. IV.II.IV.I. सन्तति (चित्त) में मार्ग उत्पत्ति—इसके भी तीन भेद हैं—I. वास्तविक (प्रधान) मार्ग, II. उसका सहायक (मार्ग) और III. उपसहायक (मार्ग)।

ग. IV.II.IV.I.I. वास्तविक (प्रधान) मार्ग—इसमें उत्पत्ति और निष्पन्न क्रम दो हैं। उत्पत्तिक्रम में चार योनियों के सत्त्वों का जन्म शोधन है। आचार्य घण्टापाद कहते हैं—

“उपपादुकसत्त्व की भाँति, बीज रहित भावना करनी चाहिए।”

इस प्रकार क्षणिक उत्पाद से उपपादुक (योनि) का शोधन, अध्येषणा गान द्वारा विना प्रेरित (असंचोदित) सूर्यचन्द्र सबीज उत्पाद से अण्डज (योनि) का शोधन, अध्येषणा

गीत की प्रेरणा से उत्थित होकर गर्भ से देवता के स्फुरण द्वारा जरायुज (योनि) का शोधन और मात्र चन्द्र और बीज के उत्पाद से स्वेदज (योनि) का शोधन होता है। जैसे अभिधानोत्तरतन्त्र (तो० 479) में कहा है—

जरायुजो गीतयोगेन भावनां परिकल्पयेत् ।

अण्डजं गीतरहितं शब्दाशब्दविवर्जितम् ॥ (अभि० छठा पटल)

(जरायुज गीतयोग से, भावना को सम्यक्तया कल्पित करें। अण्डज गीतरहित और शब्द और अशब्द से वर्जित होकर।) संवरोदयटीका (तो० 1420) में कहा है—“यहाँ सूर्य और चन्द्र से बीज और लक्षण क्रम से सम्पन्न देवता का जन्म अण्डज योनि, माता और पिता के पद्म और वज्र के मन्थन से द्रवित बोधिचित्त से उत्पन्न जरायुज योनि, चन्द्र और बीज मात्र से उत्पन्न स्वेदज योनि तथा बिना बीजादि द्वारा क्षणमात्र में प्रभास्वर से उत्पन्न उपपादुकयोनि है।”

कालचक्रतन्त्र में भी कहा है—“तैर्थिकों का ब्रह्माण्ड” इस प्रकार बाह्यलोक में इच्छानुसार कूटागार का उत्पाद अण्डज योनि परिशोधन के लिए बतलाया है। यह भी दो प्रकार का है—मात्र देवता की भावना और मण्डलचक्र की भावना। उसमें भी संक्षेप में चतुर्वज्रविधि से उत्पत्ति, मध्यम (रूप में) गीत-अध्येषणा द्वारा असंचोदित छह अंगों से युक्त भावना को (वज्र) पञ्जर आदि में कहे अनुसार तथा विस्तार में गुह्यसमाजादि में बतलाये चार अङ्गों वाले सेवा-साधन और संचर्या (योगिनीसंचार) में बतलाये गए त्रिकायों का तीन अधिमोक्ष या कालचक्र में बतलाये गये—मण्डलराजाग्री, कर्मराजाग्री, बिन्दुयोग और सूक्ष्मयोग, कृष्णायमारितन्त्र में बतलाए चार योग—योग, अनुयोग, अतियोग और महायोग, वज्रशेखर और वज्रमाला में तीन समाधियों—आदियोग, मण्डलराजाग्री और कर्मराजाग्री के द्वारा उत्पत्ति विधि को बतलाया गया है। प्रत्येक आचार्य के मतानुसार ये (साधन) तत्तद् (तन्त्रों) के अनुसार है। गुह्यसमाज साधन के दोनों आम्नायों में वे सभी (मत) पूर्ण समान हैं। सत्त्व उत्पाद क्रम की तरह शोधन कर बुद्ध मार्ग में क्रमशः चलकर, बुद्धत्व प्राप्त करने के समान दृढ़ चित्त प्राप्ति पर्यन्त साधना करे। साधना में खेद (दोष) होने पर जाप करने के लिये संवरोदय (तो० 373) में कहा है—

.....चत्वारो मन्त्ररूपतः ।

प्रव्याहारमिदं जापं ॥ (12वाँ पटल)

(चार प्रकार के मन्त्र रूपों में से यह वाक् जाप है)।

इस प्रकार चार प्रकार का जाप बतलाया गया है—(क) वाक् जाप, (ख) रूप जाप, (ग) योगजाप और (घ) वज्रजाप।

(क) वाक्जाप—अभिधानोत्तरतन्त्र (तो० 479) में कहा है—

जपेत् त्रिसमयोत्तमं स्फरणसंहारयोगेन ।

जपेद्भावविभावनां ॥ (अभि० 10वाँ पटल)

(“अर्थात् तीन प्रकार के उत्तम समयों का जाप करे, स्फरण और संहारयोग से योगी भावना में जाप करे इत्यादि”)।

इस प्रकार मन्त्र का स्फरण-संहरण जाप के समय बीज से देवता का स्फरण कर, अर्थ सिद्धि करके बीज में लय होना समयी जाप के साथ एकीभूत है। स्ववज्र से मन्त्रमाला माता (प्रज्ञा) के पद्म में प्रवेश करना और कायाकार रूप में माता के मुख से होते हुए स्वमुख में प्रविष्ट होकर संसार का आलम्बन होना वक्र (तिर्यक्) जाप है। यह कर्म भेद से चार प्रकार के हैं—1. शान्तिक (कर्म) में मन्त्रमाला अलातचक्रवत्, 2. पौष्टिक (कर्म) में (मयूर) पिच्छकवत्, 3. वश्य (कर्म) में शृङ्खलावत् और 4. रौद्र (कर्म) में शूल प्रक्षेपण अथवा रज्जु बटने के समान होता है। पुनः पूर्व मन्त्रमाला से निर्वृत्त होकर मन्त्रमाला को स्वमुख से माता के मुख में प्रविष्ट करना इत्यादि को क्रोध जाप कहा जाता है।

(ख) रूपजाप—देव आकार मात्र का अनुस्मरण करना है।

(ग) योगजाप—तत्त्व मात्र का अनुस्मरण करना है।

(घ) वज्रजाप—(इसमें) वायु की उत्पत्ति, प्रवेश और स्थिति (इन) तीनों का आलम्बन करना है। इसमें ग्यारह भेद किए जाते हैं। प्राणायाम को रोकना तो निरोध या ज्ञानजाप है। यह और पूर्व दोनों (जाप) सम्पन्नक्रम के अन्तर्गत आते हैं। सम्पन्नक्रम के छह अंगों के सम्बन्ध में गुह्यसमाज और कालचक्र आदि में इस प्रकार कहा है—

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामश्च धारणा ।

अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ (गु० स० 18.140)

(अर्थात् प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि इन छह अंगों को योग कहा जाता है।)

प्रदीपोद्योतन में भी कहा है—

मन्त्राच्चित्तादतः कायाद् विशुद्धेर्योगवाहतः ।

क्रमशः पञ्चपिण्डार्थान् ज्ञात्वा षट्कोटिमाविशेत् ॥ (प्रथम पटल, पृ० 1)

(मन्त्र, चित्त, काय, विशुद्धि और युगनद्धयोग से क्रमशः पाँच पिण्डार्थ (संक्षिप्त अर्थों) को जानकर षट्कोटि में प्रवेश करे)। इस प्रकार पाँच क्रम कहे गए हैं। घण्टापाद के पञ्चक्रम और अन्यत्र भी गुह्यसिद्धि और सहजसिद्धि आदि में तन्त्रों के अविपरीत अर्थों वाले वचनों (उपदेशों) के अनुसार भावना करनी चाहिए।

ग. IV.II.IV.I.II. सहायक मार्ग—इसमें पाँच प्रकार के विधि हैं—

क. विघ्नोपशमन हेतु बलि विधि।

ख. देवता संतुष्टीकरण पूर्वक कर्मसिद्धि हेतु होम विधि।

ग. आशु सिद्धि हेतु अधिष्ठान विधि।

घ. पुण्य संचय हेतु सञ्चक विधि।

ङ. मल (पाप) शोधन हेतु कलश विधि।

क. विघ्नोपशमन हेतु बलिविधि—इसमें सामान्य और प्रत्येक बलिविधि ये दो (भेद) हैं।

ख. देवता संतुष्टीकरण पूर्वक कर्मसिद्धि हेतु होम विधि के चार प्रकार हैं—बाह्य, आभ्यन्तर, गुह्य और तत्त्व होम।

ग. आशु सिद्धि हेतु अधिष्ठान विधि के तीन प्रकार हैं—त्रि-आधार (काय-वाक्-चित्त) का (अधिष्ठान), स्थान का अधिष्ठान और अलङ्कार अधिष्ठान।

घ. पुण्य सञ्चय हेतु सञ्चक विधि के संक्षिप्त और विस्तार विधि भेद से दो प्रकार हैं, ये जीवित और मृत दोनों के लिये हैं।

ङ. मल (पाप) शोधन हेतु कलश विधि के अभिषेक, स्नान और पूजा कलश विधि भेद से तीन प्रकार हैं।

ग. IV.II.IV.I.III. उप-सहायक मार्ग—यह सिद्धद्रव्य, मङ्गलकाल (समय), लक्षण युक्त (सहायक) मित्र, शास्त्र अनुरूप द्रव्य और धर्मानुकूल जीविकोपकरण (वस्तु) भेद से पाँच प्रकार के हैं। (पुनः) शास्त्रानुरूप द्रव्यों में पूजा द्रव्य, मन्त्रद्रव्य और साधना द्रव्य हैं।

ग. IV.II.IV.II. विषय (उत्पत्ति मार्ग का)—विषय दो प्रकार के हैं—प्रवेश्य विषय और आलम्बन विषय। सभी सत्त्वों के हितार्थ बुद्धत्व प्राप्ति प्रवेश्य विषय है और उत्पत्तिक्रम द्वारा देवता, अक्षर और आयुध आदि का आलम्बन तथा निष्पन्नक्रम द्वारा शून्यता स्वभाव का निरालम्ब रूप से आलम्बन करना आलम्बन विषय है।

ग. IV.II.IV.III. प्रहेय—प्रहेय जैसे सम्पुट (तन्त्र) में कहा है—

“विकल्पो हि महामोहः संसारोदधिपातकः”। (10.4.8)

(संसार सागर में गिराने वाला विकल्प महामोह (अविद्या) है)।

इस प्रकार विकल्प प्रहेय हैं। ये दो प्रकार के हैं—प्राकृत (अशुभ) ग्रहण और देवादि दिव्याभिनवेश विकल्प।

ग. IV.II.IV.IV. प्रहाण उपाय—कुविकल्प (बुरे विकल्प) का उत्पत्तिक्रम द्वारा प्रहाण होता है और सुविकल्प (अच्छे विकल्प) का सम्पन्नक्रम द्वारा प्रहाण होता है।

ग. IV.II.IV.V. प्रहाण फल—अभिज्ञा आदि साधारण फल है और महामुद्रा सिद्धि की प्राप्ति असाधारण फल है।

ग. IV.II.V. पारङ्गत अङ्ग चर्या विशुद्धि विधि—इसके I. प्राकृत विशुद्धि चर्या विधि और II. विद्याव्रतचर्या विधि दो भेद हैं—

ग. IV.II.V.I. प्राकृत विशुद्धिचर्या विधि—इसके दो भेद हैं—1. क्रियाओं में देवाकार करण चर्या विधि और 2. आवस्थिक क्रिया चर्या विधि।

ग. IV.II.V.I.I. क्रियाओं में देवाकार करण चर्या विधि—क्रियाओं में देवाकार चर्याविधि को गुह्यसमाज में कहा है—

भोजने कायवज्रस्य ।

वज्रधर्मैः सदा कार्या सूत्रोद्घाटविधिक्रिया ॥ (गु० सो०, 17.35)

(द्रव्य (भोजन) में कायवज्र का (अधिष्ठान करें), सदा वज्रधर्म (वाग् वज्र अधिष्ठान) में सूत्रोद्घाटन विधि क्रिया को करें।)

इस प्रकार जो कर्म और क्रिया है उसी के अनुरूप देवाकार बनाना है।

ग. IV.II.V.I.II. आवस्थिक क्रिया चर्या विधि—स्नान करना, वन्दना, मण्डल अर्पण, प्रदक्षिणा आदि करना और असीमित पुण्य कर्मों को करना आवस्थिक क्रिया चर्या विधि है।

ग. IV.II.V.II. विद्याव्रत चर्या विधि—विद्याव्रत चर्या तीन प्रकार की हैं—I. सप्रपञ्चचर्या, II. निष्प्रपञ्चचर्या और III. अत्यन्त निष्प्रपञ्च चर्या।

ग. IV.II.V.II.I. सप्रपञ्चचर्या—तथागत और वज्रधर ने जिस प्रकार आश्वासन के रूप में गणचक्र में कहे छोमा (संकेत), प्रतिछोमा, नृत्य, प्रतिनृत्य आदि के द्वारा तथागत लीला से विक्रीडित होते हुए समाधि को दृढ़ करना सप्रपञ्चचर्या है।

ग. IV.II.V.II.II. निष्प्रपञ्चचर्या—अति प्रपञ्च के बिना समाधि में सदा व्याप्त (लीन) रहना तथा दूसरों के प्रयोजनवश ही कभी क्रीडा (लीला) करना निष्प्रपञ्च चर्या है।

ग. IV.II.V.II.III. अत्यन्त निष्प्रपञ्चचर्या—सभी संसर्ग का परित्याग कर मात्र ध्यानाहार और स्थिति के द्वारा ज्ञानमुद्रा और समापत्ति का अभ्यास करना भुसुकु चर्या (अत्यन्त निष्प्रपञ्चचर्या) है। इन तीनों में से किसी से भी वज्रधरत्व प्राप्त होगा।

ग. IV.III. फल—दशबलादि असंहार्य गुणों से युक्त चार काय पञ्चज्ञानात्मक महावज्रधर की सिद्धि फल है।

घ. पालनीय समय—

(आचार्य) अतिश ने समयसंग्रह में कहा है—

“चार सामान्य मूलापत्ति, बारह पारमिता मूलापत्ति, क्रियातन्त्र की तीस मूलापत्ति, चर्यातन्त्र की चौदह मूलापत्ति, योगतन्त्र की चौदह मूलापत्ति और महायोग (अनुत्तरतन्त्र) की चौदह मूलापत्ति हैं। पुनः पाँच, चार और सत्तर मूलापत्ति हैं”।

क्रियातन्त्र की मूलापत्ति—यहाँ क्रियातन्त्र के तीस मूलापत्ति इदं इत्थं रूप में स्पष्ट दिखाई नहीं देता। क्या सुसुद्धितन्त्र (तो० 807) के “विद्यामन्त्र विनय” में उल्लिखित (मूलापत्ति क्रियातन्त्र) के हैं या अन्य कोई और विचारणीय है।

चर्यातन्त्र की मूलापत्ति—वैरोचनाभिसम्बोधि (तो० 494) में कहा है—

“बोधिसत्त्व द्वारा प्राणातिपात” से लेकर “मिथ्यादृष्टि से पुनः निर्वृत्त होना चाहिए” तक दस अकुशल कर्मों तथा पुनः वहीं (वैरोचनाभिसम्बोधि में)—

“प्राण के लिए भी चार मूलापत्तियों का परिहाण नहीं करना चाहिए,
ये चार कौन से हैं, वे इस प्रकार हैं—सद्धर्म प्रहाण,
बोधिचित्त परित्याग, मात्सर्य और सत्त्वों का अपकार करना।”

इस प्रकार उल्लिखित होने से दस अकुशल (कर्मों) से संवर क्षय (च्युति) तथा मूल से उच्छेद होना बतलाया है, इसलिए मूलापत्ति दस हैं। गृहस्थों की (जो) पाँच (मूलापत्ति) हैं वे समान लक्षण होने के कारण प्रव्रजितों के दस (आपत्ति) में ही संगृहीत हैं। (इन) दोनों (प्रव्रजित और गृहस्थ) की चार आपत्ति सामान्य होने से मूलापत्ति चौदह हैं।

योगतन्त्र की मूलापत्ति—वज्रशेखर (तो० 480) में कहा है—

“उससे अतिरिक्त चौदह को, पाराजिक कहा गया है।

प्रहाण कर परित्याग नहीं करना मूलापत्ति है ऐसा कहा है।

रात-दिन तीन बार, प्रतिदिन [मूलापत्ति सूत्रादि] का पाठ करे,

योगी जब (संवर से) हीन हो जाए, तो स्थूल अवद्य हो जाएगा।

आपके द्वारा प्राणी [मनुष्य और मनुष्य पर निर्भर प्राणियों] की हत्या नहीं करनी चाहिए।

अदत्त [अन्य द्वारा अधिगृहीत धन, मगध का डेढ द्रोण प्रमाण] को भी नहीं लेना चाहिए,

काममिथ्याचार [स्त्री के प्रति] नहीं करना चाहिए,

मृषावाद [दूसरों को धोखा देने वाला झूठ] नहीं कहना चाहिए,

सभी अनर्थों के मूल मद्यपान का परित्याग करें।

सत्त्व विनय [सत्त्वार्थ] के अतिरिक्त सभी अकरणीय [अधर्म कृत्य] का त्याग करें।

सज्जन [सद्गुरु] की सेवा करें, योगियों [वज्रयान में स्थित] का सत्कार करें,

तीन प्रकार का [प्राणातिपात, अदत्तादान और अब्रह्मचर्य] काय कर्म,

चार प्रकार का [मृषावाद, पैशुन्य, पारुष्य और प्रलाप] वाक् कर्म और चित्त के तीन प्रकार के [अभिध्या, व्यापाद और मिथ्या दृष्टि] कर्मों का, यथा सामर्थ्य [दश अकुशल कर्मों के परित्याग का] अनुसरण करें।

हीनयान [श्रावक और प्रत्येक बुद्धयान] की इच्छा न करें, सत्त्वार्थ से पराङ्मुख न हों, संसार का भी परित्याग न करें, निर्वाण पर सदा अनासक्त रहें, सुर-असुर और गुह्यक [यक्ष] की, तुम अवमानना न करो।

मुद्रा [गुरु] वाहन, आयुध [देवता आयुध], चिह्न [नाम, छोमा या तिलक आदि] नहीं लांघना चाहिए। इन सभी को 'समय' के रूप में कहा है।"

इस अर्थ को किसी पूर्व गुरु [पूर्वापर कालीन अनेक योगियों] का मानना है कि "उससे अतिरिक्त" शब्द को देखकर "प्राणातिपात" से "चिह्न (लक्षण) का लांघना" तक चौदह मूलापत्ति हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य आनन्दगर्भ ने पाँच कुल संवर को माना है। जैसे तत्त्वालोक (तो० 2510) में कहा है—

"सर्व तथागतों का शील, जैसे त्रिकाल के नाथों ने, बोधि (बुद्धत्व) का निश्चय किया, इत्यादि पाराजिक से निवृत्ति लक्षण है"।

और भी परमाद्य (तो० 487) में कहा है—

"वज्र, घण्टा और मुद्रा को, कभी भी न छोड़ें"।

इसी की व्याख्या करते हुए (परमाद्य) टीका (तो० 2512) में कहा है—

"इन मुद्रा आदि के द्वारा क्या करें इत्यादि से इन्हें परित्याग करे तो पाराजिक होगा"। इस कथन की परीक्षा करनी चाहिए।

अनुत्तरयोगतन्त्र की मूलापत्ति—अनुत्तरयोगतन्त्र की मूलापत्ति तो प्रसिद्ध होने के कारण (यहाँ) नहीं लिखा जा रहा है। स्थूलापत्ति और उसके अङ्ग (भेद) आपत्ति अनन्त हैं। अतः (इन्हें) पृथक्-पृथक् ग्रन्थों से जानना चाहिए।

डः तन्त्रों की स्वाभाविक स्थिति भेद (स्वभाव निर्धारण पद्धति में अन्तर) —

ज्ञानवज्रसमुच्चय (तो० 450) में कहा है—

“भार्या (देवी) परिषद् (परिवार) के मध्य, चक्रवर्ती रूप में महासुख समाधि के द्वारा भार्या भग में सम्यक् रूप से प्रवेश कर लौकिक चर्या के विपरीत, अद्भुत वज्रपद की षट्कोटियों में से किसी के द्वारा भी परीक्षा कर साधना करना महायोगतन्त्र में प्रवेश होना है।

विद्या देवियों के साथ मण्डलचक्र में न्यस्त होना, और उससे उद्भूत कर्ता, कर्म और साधना आदि दस प्रकार के तत्त्वों का आचरण करते हुए साधना करना उभयतन्त्र में प्रवेश होना है।

विविध और विपुल कर्म-क्रियाओं को क्रियातन्त्र के मुद्रा आलम्बन लक्षण पर आचरण करते हुए सिद्ध करना और साधना करना चर्यातन्त्र में प्रवेश होना है।

भय का आलम्बन करते हुए अत्यन्त शुद्धि करना, ज्ञानसत्त्व और परमसुख का अभाव, स्वाधिदैव सेवा का अभाव, अद्भुत गोचर न होना और दोषोद्भव विकल्प द्वारा आचरण करते हुए साधना करना क्रियातन्त्र में प्रवेश होना है।

मन्त्र, औषधि, होम, चूर्ण, अञ्जन, पादलेप आदि आठ महासिद्धियों के आचरण द्वारा साधना करना तन्त्रकल्प में प्रवेश होना है”।

[क्रमशः]



जन संतुष्ट हो सकें, जिनका कोई अवलम्ब नहीं है और न ही उनमें अपने उद्धार की आशा है। इस प्रकार उनका दायां हाथ 'अभयदान' की मुद्रा में है। उनके इसी हाथ में निर्मल कमलपुष्प अत्यन्त शोभायमान है, जिसमें षड्गति के प्राणियों को दुर्गति से निवृत्ति के लिए 'आह्वान मुद्रा' का भी अवलोकन किया जा सकता है। इसके द्वारा सत्त्वों को दुःख रहित "परमानन्द महासुख" सुखावती भुवन तक पहुँचने में सौविध्य मिलता है। इस मुद्रा के द्वारा ऐसा परिलक्षित होता है कि वह दुःखीजनों की निवृत्ति के लिए अपनी ओर आहूत कर रही है। इतना ही नहीं इस बायें हाथ में शोभायमान कमलपुष्प से सुखावती भुवन के धर्मस्वामी गुरु अमिताभ तथागत के दर्शनार्थ "आह्वान-मुद्रा" का भी अवबोध होता है।

धर्मस्वामी अमिताभ तथागत के सभी शारीरिक लक्षणों का विशुद्ध विचार करने से आर्यावलोकितेश्वर के ज्ञानमय, धर्ममय एवं करुणामय स्वरूप का अवबोध होता है। इतना ही नहीं उनके कारुणिक एवं निर्मल हृदय का अभिलषित भाव, शुद्ध प्रणिधान एवं अधिष्ठानचर्या को विचारपूर्वक देखें तो अपार करुणासागर, अनुपम शान्ति एवं अचिन्त्य चरित्र के अवतार का अवबोध होता है। उनके इस स्वरूप का वर्णन सूत्र, तन्त्र, अवदान (कथा) एवं इतिहास के ग्रन्थों में विस्तार से मिलता है।

आर्यावलोकितेश्वर के सत्य, सिद्धि तथा प्रणिधान द्वारा अधिष्ठित "ॐ मणि पद्मे हूँ" मूलमन्त्र का उल्लेख मिलता है। इस मन्त्र का सभी प्राणी सम्बोधिमार्ग की प्राप्ति हेतु उपयोग करते हैं, जिससे सुख-शान्ति की प्राप्ति एवं अमोघ-शक्ति की उपलब्धि होती है। यह मन्त्र महायान एवं तन्त्रयान के साथ ही सभी बौद्ध धर्मावलम्बियों के लिए अनुकरणीय श्रद्धास्पद महामन्त्र है। इसी षडक्षरी मन्त्र की प्रशस्ति "गुणकारण्डव्यूह" में भी की गई है—

यो मुदा श्रद्धया नित्यं जपेदिमां षडक्षरीम् ।
सम्बोधिसाधनीं विद्यां भद्रश्रीसद्गुणाकरीम् ॥
सोऽचिन्त्यश्रीर्महाभिज्ञः सर्वपारमिताप्रभुः ।
सर्वाश्च धारणीः सर्वान्समार्थीश्च लभेदपि ॥
सर्वविद्याधिपः शास्ता सर्वधर्माधिपः प्रभुः ।
अर्हन्मारविजेता च भवेत् सर्वहितार्थभृत् ॥

(कारण्डव्यूह सू०, श० पि० सी० 394, पृ० 232-233)

अर्थात् इस षडक्षरी मन्त्र का जो शुद्ध चित्त से प्रतिदिन जप करेगा, निश्चय ही उसे संबोधि प्राप्त करा सकने वाली विद्या का लाभ होगा। कल्याणप्रद सद्गुणी यशकीर्ति मिलेगी।

इसके चिन्तन मनन से अगोचर एवं अनुपम महाभिज्ञा प्राप्त होगी। यह मन्त्र सम्पूर्ण पारमिताओं का भी स्वामी है। इससे सभी धारणी, समाधिज्ञान का लाभ होता है। सम्पूर्ण शास्त्र विद्याओं के गुरु, धर्मों के अधिपति एवं अचिन्त्यमार विघ्नों पर विजय प्राप्त करने में सक्षम तथा सभी के कल्याण हेतु सक्षमता भी इसका गुण है।

मन्त्र का अर्थ

महायान बौद्धधर्म में इस मन्त्र 'ॐ मणि पद्मे हूँ' का अत्यधिक माहात्म्य है। छह अक्षरों से निर्मित यह मन्त्र चार पदों में विभक्त है। इसमें जीवनमूल्यों से जुड़ा आध्यात्मिक तत्त्व अनुस्यूत है। बौद्ध जगत् में इसे अत्यन्त सारसमन्वित एवं महत्त्वपूर्ण माना गया है।

'ॐ' इस मन्त्र का 'ॐ' शब्द अत्यन्त विशुद्ध, पवित्रता एवं सर्वगुण सम्पन्नता का परिचायक है 'ॐ' शब्द भी अ+उ+म्, तीन अक्षरों का संयुक्त रूप है। इस मन्त्र में 'ॐ' शब्द त्रिरत्नालोक, पुण्यकीर्ति एवं त्रितत्त्व का उपस्थापक है।

'मणि' शब्द करुणामय आर्यावलोकितेश्वर के अनन्त उपकारी, समदर्शी, अन्तर्यामी स्वरूप का प्रतिपादक है। इसके जरिये जिसे जिस चीज की सिद्धि करनी होती है, उसकी उपलब्धि में मदद मिलती है। त्रैकालिक बुद्ध, बोधिसत्त्वों द्वारा आश्रयभूत महामणिरत्न के रूप में इसे लिया गया है।

'पद्म' मन्त्र का पद्म शब्द विश्व में शान्तिमय वातावरण फैलाने, अचिन्त्य स्वरूप दर्शन, प्राणिमात्र की सुख-समृद्धि, सम्पूर्ण दुःख दारिद्र्य नाशक एवं महान् शक्ति-सम्पन्नता का परिचायक है। पद्म का 'म' अक्षर चार ब्रह्मविहारों में अपरिमित मैत्री का प्रतीक है। इस प्रकार के महामणिरत्न पद्मकेसर के ऊपर ससम्मान रखे गये हैं, जो अत्यन्त शोभायमान, प्रतीत होते हैं।

'हूँ' मन्त्र विशुद्धि की भावना से किया जाता है। 'ॐ आः हूँ' त्र्यक्षर त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म एवं संघ) के बीजाक्षर माने गये हैं। इसी तरह हूँकार अक्षर आर्यसंघनायक आर्यावलोकितेश्वर के मूलमन्त्र का भी बीजाक्षर है। किसी भी मन्त्रसिद्धि के लिए प्राण के रूप में 'हूँ' अक्षर का अधिष्ठान किया जाता है। इसमें विभिन्न दृष्टिकोण के रहस्यपूर्ण अर्थ अनुस्यूत हैं।

अब यहाँ हम 'ॐ मणि पद्मे हूँ' मन्त्र के एक-एक अक्षरों के अर्थ, अभिप्राय, सम्बन्ध एवं स्वरूप का उपस्थापन करना समीचीन समझते हैं—

‘ॐ मणि पद्मे हूँ’ इस मन्त्र के द्वारा षड्गतियों के प्राणि सुखावती में प्रवेश करते हैं, जो गुरु अमिताभ तथागत का निवास स्थान है। यह स्थान परम पवित्र एवं महासुखप्रदायी है। यहाँ आकर प्राणी तथागत के उपदेशों का श्रवण करते हैं तथा अभिषेक प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् सभी प्रकार के अधिकारों को अर्जित कर पुनः षड्गतियों के प्राणियों के उद्धार के लिए साधन सुलभ कराते हैं। इस प्रकार इसकी उपादेयता और बढ़ जाती है, जिसका माहात्म्य विभिन्न रूपों में यहाँ दर्शाया जा रहा है—

‘ॐ’ देवलोक का उद्धार करने के लिए वीणा लिए हुए श्वेतवर्ण करुणामय।

‘म’ दैत्यलोक का उद्धार करने के लिए खड्ग ढाल लिए हुए हरितवर्ण करुणामय।

‘णि’ मनुष्यलोक का उद्धार करने के लिए शीलाङ्कुश पिण्डपात्रधारी पीतवर्ण करुणामय।

‘पद्’ तिर्यग् योनि का उद्धार करने के लिए प्रज्ञापुस्तक पिण्डपात्रधारी नीलवर्ण करुणामय।

‘मे’ प्रेतगति का उद्धार करने के लिए चिन्तामणिरत्न, पिण्डपात्रधारी रक्तवर्ण करुणामय।

‘हूँ’ नरकगति का उद्धार करने के लिए कलश और अग्निज्वालाधारी धूम्रवर्ण करुणामय।

इस प्रकार छः रूपों में अवतरित होकर करुणामय आर्यावलोकितेश्वर ने षड्गति में विचरने वाले सत्त्वों का उद्धार करते हैं। देवलोक में मृत्यु के सात दिन पूर्व ही असह्य दुःख दूर हो जाते हैं और समतामूलक ज्ञान प्राप्त होता है। दैत्यलोक में परस्पर प्रहार करने का दुःख दूर होकर कृत्यानुष्ठानज्ञान प्राप्त होता है। मनुष्यलोक में प्रियाप्रिय कारण से व्यस्तता होने से सुविशुद्धज्ञान प्राप्त होता है। तिर्यक्लोक में अज्ञान के कारण वार्तालाप न जानने का दुःख दूर होकर धर्मधातुज्ञान प्राप्त होता है और प्रेतलोक में भूख-प्यास से व्याकुल असह्य दुःख दूर होकर प्रत्यवेक्षणाज्ञान प्राप्त होता है। नरकलोक में ऊष्ण-शीतल दुःख दूर होकर आदर्शज्ञान प्राप्त होता है।

इस प्रकार सर्वगुणसम्पन्न षडक्षरी महामन्त्र के द्वारा नियमानुसार श्रद्धापूर्वक चित्त परिशुद्ध करके एकाग्र मन से जप ध्यान में लीन होकर महाकारुणिक आर्यावलोकितेश्वर की ध्यान भावना के द्वारा बोधिचित्त उत्पन्न करना चाहिए। एक सौ बार जप करने से काय, वाक् एवं चित्त के द्वारा उत्पन्न पाप विनष्ट होते हैं। एक हजार बार जप करने से त्रिदोष एवं दश अकुशलों के पाप परिशुद्ध होते हैं। इसी प्रकार इस मन्त्र के जप से ‘समस्त’ बुद्ध वचनों के पाठ के बराबर पुण्य होता है। इस मन्त्र का दश हजार बार जप करने से कर्तव्यभ्रष्ट व्यक्ति के पापकर्म परिशान्त होते हैं। इसी प्रकार तीनों दुर्गतियों में जन्म के द्वार बन्द हो जाते हैं। एक लाख बार जप करने से सुमेरु पर्वत सदृश पाप भी विनष्ट हो जाते हैं। दस लाख बार जप करने से पंचानन्तर्य पाप की परिशुद्धि होती है और अवैवर्तिकभूमि की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार एक करोड़ जप से व्यक्ति नारकीय जीवन से निवृत्त हो जाता है। जिस किसी व्यक्ति ने दस

करोड़ बार इस मन्त्र का जप किया तो निश्चय ही उसे सम्बोधि ज्ञान की परिलब्धि होती है और प्राणी धर्मकाय, सम्भोगकाय, निर्माणकाय तथा स्वभावकाय में अभिसंबोधि प्राप्त कर बुद्ध बन जाता है।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार इस मन्त्र से अपरिमित पुण्यफल प्राप्त होते हैं। इसी आशा एवं विश्वास से श्रद्धालु धर्मात्मा इस षडक्षरी महामन्त्र (ॐ मणि पद्मे हूँ) का समय-समय पर जगह-जगह हर्षोल्लास पूर्वक प्रचार-प्रसार में तल्लीन रहते हैं और इसके माहात्म्य तथा पुण्यफल पर प्रकाश डालते हैं। जिससे सम्पूर्ण जगत् में यह प्रतिष्ठापित होती है।

इस मन्त्र के जरिये तो 33कोटि देवताओं से सम्पृक्त मन्त्रों का उद्भव हुआ है। साथ ही यह भी दृष्टिगत होता है कि उनमें 'ॐ मणि पद्मे हूँ' का ही सर्वाधिक प्रचार-प्रसार है।

कहा भी गया है कि इस मन्त्र के स्मरण से अनेक अवतारी महापुरुषों का आगमन होता है, जिनके आगमन से हजारों-हजार विहारों का निर्माण होता है। लाखों-लाख विभिन्न धातुओं के मणि (मन्त्रचक्र) की स्थापना की जाती है। इसी प्रकार विभिन्न मूर्तियों एवं सद्धर्म ग्रन्थों का अनगिनत मात्रा में स्थापन एवं प्रणयन किया जाता है। इस मन्त्र के कोटि-कोटि जप से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अरबों-अरब की संख्या में इस महामन्त्र को काष्ठ, प्रस्तर, पीतल, चाँदी, स्वर्ण आदि पत्रों पर अंकित करते हैं। कहीं-कहीं इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि पर्वत, पानी, आकाश के भीतर भी वज्रलेख के समान इस महामन्त्र को सुरक्षित किया गया है। इस प्रकार इस मन्त्र का करोड़ों बार लोग श्रद्धापूर्वक उच्चारण करते रहते हैं। विभिन्न पर्वों, उत्सवों एवं पवित्र स्थलों में महाकारुणिक आर्यावलोकितेश्वर की महानुकम्पा से वरदान प्राप्त करते हैं। श्रद्धालुजन अपनी इच्छानुसार भक्तिपूर्वक ज्ञानकाय, धर्मकाय, वज्रकाय, करुणामय आर्यावलोकितेश्वर के सम्मुख बैठकर प्रज्ञा, मुद्रा, मण्डल, व्याकरण, अभिषेक, मन्त्र, न्यास, ध्यान, साधना, सिद्धि, योग, धारणी, स्तोत्र, प्रणिधान, पाठ, पूजा आदि करते आ रहे हैं।

इस प्रकार इस महत्त्वपूर्ण महामन्त्र का श्रद्धापूर्वक, धारण, वाचन, देशना एवं प्रकाशन करने का सबको बराबर अधिकार है। इस मन्त्र की सत्यसिद्धि एवं अधिष्ठान से प्रसन्नतापूर्वक श्रवण करने और आदर एवं विश्वासपूर्वक स्मरण एवं जप से अवश्य ही बोधिमार्ग प्राप्त होती है। जिससे सत्त्वों को सर्वदुःखों से विमुक्त सुखावती भुवन में निवास करने का अवसर समुपलब्ध होता है और वहीं अमिताभ तथागत के दर्शन का सौभाग्य तथा सिद्धि प्राप्त होती है।

SYMBOLS AND ŚAKTI WORSHIP

—Narasingha Ch. Panda—

[Symbols represent a number of deities-male and female. At the time of Śakti worship (*devīpūjā*), some symbols are directly and indirectly used or worshipped for Śakti. Śakti is symbolized as a woman or the mother. In the *Mahānirvāṇatantra*, Śakti has been addressed as Kālī, Tārīṇī, Durgā, Ṣoḍaśī, Bhuvaneśvarī, Dhūmāvatī, Bagalā, Bhairavī, Vāgdevī and Śivā. Śakti is worshipped through various symbols, like : (i) *yantras*, (ii) *maṇi*, (iii) plants and (iv) *pīṭha/maṇḍapa*. etc. As it is known that *yantras* are symbolic representation of the goddess in her different manifestations. *Yantras* are innumerable. Śrīyantra is the most celebrated of all Tantric *yantras*. There are ten Mahāvidyās, viz. Kālī, Tārā, Ṣoḍaśī, Bhuvaneśvarī, Chinnamastā, Bhairavī, Dhūmāvatī, Bagalāmukhī, Mātāṅgī and Kamalā. These Mahāvidyās or Divine Śaktis are worshipped in their respective *yantras*. Nine plants (*nava-patrikās*) are symbolically treated as the *nava śaktis* or *nava Durgās* during *Durgā-pūjā*. *Pīṭha* of the goddess Kālī/Durgā signifies the wholeness of Divine Śakti.]

Symbols have great significance for understanding early Indian religion, beliefs, traditions, art and culture. Symbols are not confined to any particular period, place or people. They are found among the most uncivilized as well as the most civilized and sophisticated people. They have been traced right from the beginning of human experience down to our present times. They are found in all countries of the world. Of these symbols some are widely current and continued to be in use for several centuries and are found delineated in sculpture, architecture, poetry, paintings, (*pūjā*) rituals, etc.

It is widely known that symbols represent a number of deities—male and female. For example, *Śālagrāma* is the symbolical representation of Lord Viṣṇu. When we worship *Śālagrāma śilā*, it indicates that we are worshipping Nārāyaṇa-Viṣṇu. Similarly, a *liṅga* symbolically represents to Lord Śiva. This way, at the time of Śakti worship (*devī pūjā*), some symbols are directly and indirectly used or worshipped for the female deities. Before dealing various symbols used in the Śakti worship, first of all the meaning and concept of Śakti would be clarified. Śiva is commonly

said to be the male principle and Śakti is the female principle. As a matter of fact they are neither male nor female, nor they are neuter. The man who worships the wisdom (*jñāna*) aspect of Reality, commonly called the male principle, is a Śaiva; and he who worships the power aspects, or the female principle, is called a Śākta. When Lord Śiva is worshipped, His consort is also worshipped, as these two are inseparable. For the same reason when Śakti is worshipped, Śiva is also worshipped. Śakti is an immanent principle of Śiva.¹ Without Śakti, Śiva is inactive. Devoid of Śakti, Śiva would be insentient (*jaḍa*) and consequently, as good as 'dead' (*śava*). Śiva knows Himself only through His Śakti. But Śakti also depends upon Śiva for its functioning. Both are essentially dependent upon each other.² Śakti is symbolically represented as the spouse of Śiva and hence she is the immanent principle of Śiva.

Śakti is symbolized as a woman or the mother. In the *Mahānirvāṇa Tantra*³, Śakti has been addressed as Kālī, Tārīṇī, Durgā, Ṣoḍaśī, Bhuvaneśvarī, Dhūmāvatī, Bagalā, Bhairavī, Chinnamastakā, Annapūrṇā, Vāgdevī, Kamalālayā, and Śivā. In the *Saundarya Laharī*⁴ Śakti has been called Aruṇā, Aparṇā, Pārvatī, Caṇḍī, Umā, Bhavānī, Satī, Samayā, besides Jananī, Mātṛ, Devī and Ambā. In the *Lalitāsahasranāma*, Śakti has been named Kālī, Karālī, Kalyāṇī, Kalāvatī, Kamalā and Kalidarpaghñī. So Śakti is known by different names. Her different names have occurred due to her various functions, qualities, and forms. The *pūjaka* worships the Devī directly through *mūrti* or *pratimās* and indirectly through various symbols, i. e. *yantra*, *kalaśa*, etc.

1. Śaktiḥ sā Śivasya Śaktiḥ, Ānanda Sūtra, verse-2.
2. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ॥ शिवदृष्टिः III.2cd.
cf. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् ।
न चेदेवं देवः न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥ आनन्दलहरी, 1
cf. शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ॥ बोधपंचाशिका, 3
3. त्वं काली तारिणी दुर्गा षोडशी भुवनेश्वरी ।
धूमावती त्वं वगला भैरवी छिन्नमस्तका ॥
त्वमन्नपूर्णा वाग्देवी त्वं देवी कमलालया ।
सर्वशक्तिस्वरूपा त्वं सर्वदेवमयी तनुः ॥ महानिर्वाणतन्त्र, IV.13-14.
4. See verses 17 to 55.

In the Indian tradition *Śakti* or *Devī* is also worshipped symbolically or through various symbols. An attempt has been made in this paper to highlight the various traditional symbols related to Śakti worship. The *Durgā-pūjā-paddhati* may differ from place to place in India, but since Bengal is rich in Durgā/Kālī worship, hence the traditional *pūjā paddhati* of Bengal is mostly followed in other parts of India. Those symbols which are used in Śakti worship can be classified as under :

- (1) *yantras* and (Śakti worship),
- (2) *maṇi* and Śakti worship,
- (3) plants/trees and Śakti worship,
- (4) *pīṭha/maṇḍapa* and Śakti worship.

Yantra and Śakti Worship :

The *yantras* are symbolic representation of the goddess in her different manifestations. In a Tantric *pūjā*, the *yantra* of the main deity/devī is always worshipped as a symbols of the goddess. *Yantra* worship is the essential part of Śaiva sādhanā and it is also a mystic process of awakening the divine power. *Yantra* is a mystic diagram and it is an apparatus by which anything is accomplished. Every *yantra* is a sacred enclosure, a dwelling or receptacle of *iṣṭa-devatā*. It is a substitute for an anthropomorphic image of the deity; like Kālī *yantra* is meant for goddess Kālī. At the time of Kālī worship one should worship the Kālī *yantra* for the better prosperity. The *yantra* thus, restrains the restless movements of the mind and helps it to concentrate on the diagram representing the deity worshipped.

It is said that *yantra* removes all pains arising from love and anger. It further held that if the worship is made with *yantra*, the deity is pleased. Because *yantra* is ensouled by *mantra* and the deity is in the form of *mantra*. So the deity is immediately satisfied if he is worshipped in the *yantra*. As said in the *Kulārṇava Tantra* :

यन्त्रं मन्त्रमयं प्रोक्तं देवता मन्त्ररूपिणी ।
यन्त्रे सा पूजिता देवी सहसैव प्रसीदति ॥¹

1. Kulārṇava Tantra, VI.85-86.

Yantra worship is employed for fourfold of human desires, viz. *dharma*, *artha*, *kāma* and *mokṣa*. Every desire can be fulfilled if some one sincerely and devotedly worships *yantra devatā* or *devī*. The *Śāradātilaka* discusses in detail the formation and esoteric significance of different *yantras*. According to it, *yantras* are innumerable. Different *yantras* are employed for different objectives. According to it, *yantra* is that which fulfills all desires of the *sādhaka/pūjaka*.¹ *Śrīyantra* is the most celebrated of all Tantric *yantras*. In the *Mahānirvāṇa Tantra*² this *yantra* is known as *yantrarāja* and *sarvatobhadra* in the *Gautamīya Tantra*.³ *Śrīyantra* is also known as *Śrīcakra*. *Śrīyantra* is geometric representation of goddess Lalitā or Tripurā (*Śrī*). It is a diagram of nine *cakras* intermingled to form a concentric figure, in which the central point is conceived as the seat of Tripurā. The goddess Tripurā or Lalitā is worshipped in this *yantra*, as the source and essence of all the universe represented by the diagram. This *yantra* of the goddess Lalitā is most popularly worshipped all over India. In the following mantra, the parts of *yantra* have been described :

बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्म-

मन्वश्रनागदलसंयुतषोडशारम् ।

वृत्तत्रिपुरयुतं परितश्चतुर्धा (वृत्तत्रयं च धरणीसदनत्रयं च)

श्रीचक्रराजमुदितं परदेवतायाः ॥⁴

The *Śrīcakra* consists of a *bindu*, *trikoṇa* (triangle), *aṣṭakoṇa* (eight triangles), *antardaśāra* and *bahirdaśāra* (the pair of ten triangles), *caturdaśāra* (fourteen triangles), *aṣṭadala* (eight petals), *ṣoḍaśadala*, (sixteen petals), and *bhūpuras* (three circles). So *Śrīcakra* consists of nine *yonis* and forty three triangles. In the nine *yonis*, five *Śakti cakras* and four *Śiva cakras* are present. The five *Śakti cakras* are : (1) *trikoṇa*, (2) *aṣṭakoṇa*, (3) *antardaśāra*, (4) *bahirdaśāra* and (5) *caturdaśāra*. The four *Śiva cakras* are (1) *bindu*, (2) *aṣṭadala*, (3) *ṣoḍaśadala*, and (4) *bhūpura*.

1. अथ वक्ष्यामि यन्त्राणां भेदास्तन्त्रेषु गोपितान् ।

यैः साधयन्ति सततं मन्त्रिणो निजवाञ्छितम् ॥ शारदातिलकतन्त्र, XXIV.1

2. V.174-173.

3. 30.102-109.

4. Rudrayāmala Tantra, quoted in Kāmakaḷāvilāsa, under verse 31. Also cf. Kāmakaḷāvilāsa, verses 29-31.

The *Śrīcakra* is one of the chief instruments of instruction of the *Śrī vidyā* form of worship which consists essentially in the use of an esoteric fifteen syllable *mantra* representing the Supreme Divine power manifested as a form of the universe. In the *Lalitā Sahasranāma*, Devī Lalitā advises to the devotee to worship Her in the *Śrīcakra*. She says :

श्रीचक्रे मां समभ्यर्च्य जप्त्वा पञ्चदशाक्षरीम् ॥¹

So *Śrīvidyā* was the chief form of worship of a number of renowned sages² and has survived among all sects of tantrism.

Regarding the object of *Śrīyantra* Sir John Woodroffe says “the object of worship of the *yantra* is to attain unity with the Mother of the Universe in Her forms as Mind, Life and Matter and their *devatās*, as preparatory to *yoga*-union with Her as she is in herself as pure consciousness. The world is divinized in the consciousness of the worshipper, or *sādhaka*. The *yantra* is thus transformed in his consciousness from a material object of lines and curves into a mental state of union with the Universe, its Divinities and Supreme Deity. This leads to auto-realization as mindless consciousness. The *Śrīyantra* is thus the Universe and its one causal power of various aspects. The worshipper, too, is a *Śrīyantra*, and realizes himself as such.”³

So, in the *pūjā* of *Śrīcakra* or *Śrīyantra* the personal and impersonal aspects of Brahman are harmonized. Ritual and meditation lead to the knowledge of oneness, having gained which one attains to Supreme Peace and Highest Bliss.

Śakti worship and Ten *Mahāvidyās* :

The forms of Śakti are numerous. A number of them are classed as the *Mahāvidyās* or *Vidyās* and the *Nityās*. The *Tantrasāra* quotes two lists

1. *Lalitāsahasranāma*, I.44, p. 17 (Nag Publishers, Delhi, 1985).

2. मनुश्चन्द्रः कुबेरश्च लोपामुद्रा च मन्मथः ।
अगस्तिरग्निः सूर्यश्च इन्द्रः स्कन्दः शिवस्तथा ।
क्रोधभट्टारको देव्या द्वादशामी उपासकाः ॥

—Twelve upāsakas of *Śrīvidyā* from twelve sects.

3. Woodroffe, Sir John, *Śakti and Śākta*, ch. XX, p. 274-275 (Ganesh & Company, Madras, 1998, reprint).

of *Mahāvidyās* from the *Mālinīvijaya* and the *Muṇḍamālā Tantra*, of which the following lists consists of ten names, are very popular in Eastern India : (1) *Mahākālī*, (2) *Tārā*, (3) *Ṣoḍaśī*, (4) *Bhuvaneśvarī*, (5) *Chinnamastā*, (6) *Bhairavī*, (7) *Dhūmāvatī*, (8) *Bagalāmukhī*, (9) *Mātāṅgī*, (10) *Kamalā*.¹

These above *Mahāvidyās* or Divine *Śaktis* are being worshipped in their respective *yantras*. The *yantras* of these ten *Mahāvidyās* are also very famous in the Tantric rituals. While worshipping these *Śaktis*, the *sādhaka* or *pūjaka* has to worship the goddesses in their respective *yantras*. Without *yantra pūjana*, *Śakti* or *Devī* worship has no value, says the *Tantra Śāstra*.

Regarding the symbolic worship of *yantras* as well as the importance of ten *Mahāvidyās* Prof. Madhu Khanna, a tantric scholar says, "There are specific *yantras* devoted to each of the ten *Mahāvidyās* each named after a goddess and explaining her nature, *yantra*, mode of ritual, and the benefits that are gained from her ritual. Two main centers of the *daśa-mahāvidyā* worship are Bengal and Mithila in Bihar state, eastern India. In Mithila, when a child is born the local priest assigns one of the ten *Mahāvidyās* as his chosen deity (*iṣṭa-devatā*) and the individual generally adheres throughout his life to the worship of the deity in either a *yantra* or image form."²

(1) *Kālī & Śakti* worship :

Kālī is considered to be the most important and popular of the *Śakti* deities in Eastern India. She is worshipped on different occasion under different names and forms, all fearful and ferocious, manifesting the spirit of destruction which she represents. The *Kālī yantra* bestows on the *sādhaka* fulfillment of all his desires, wealth, comforts of life. The *japa*

-
1. काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी ।
भैरवी, छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा ॥
वगला सिद्धविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका ।
एता दश महाविद्याः सिद्धविद्याः प्रकीर्तिताः ॥

—मुण्डमालातन्त्र । cf. *Prānatoṣinī Tantra*, V.6.

Quoted in *Tantras : Studies on their Religion and Literature*, by C. Chakravarti, ch. X, p. 86 (Calcutta edition, 1972).

2. Khanna, Madhu; *Yantra*, ch. IV, p. 58 (Thomas & Hudson Ltd., London, 1979).

mantra of Kālī is : “*Om krīm kālīkāyai namaḥ Om kapālīnyai namaḥ*”. The worshipper should meditate on Kālī with the following *mantra* :

शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम् ।
चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम् ॥
मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम् ।
एवं सञ्चिन्तयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम् ॥

(शाक्तप्रमोद - कालीतन्त्र)

Kālī pūjana yantra : Minor differences are also noticed in the *Kālī yantra* in different Tantra works. In the Mahidhara's *Mantramahodadhi* the *Kālī yantra* is described as :

आदौ षट्कोणमारच्य त्रिकोणत्रितयं ततः ।
षट्मष्टदलं बाह्ये भूपुरं तत्र पूजयेत् ॥¹

It means, first of all, writing a six triangled hexagon and then enclosing it, make three triangles each over the other. Around the triangles draw an eight petalled lotus and finally, outside the petals, draw a *bhūpura* (mystic square shaped outline). The *sādhaka/pūjaka* should worship goddess Kālī on the (above mentioned) *Kālī yantra* with the *bīja mantra* ‘*krīm*’.

(2) Tārā (Yantra) :

Goddess Tārā is regarded as the devī of knowledge. She is called *parāvāk*. Tārā Devī should be worshipped on a *yantra* consisting of a hexagonal pericarp, eight petals and surrounded by a square pedestal.² Tārā is also considered as a goddess of Buddhist pantheon.

(3) Śoḍaśī (Yantra) :

Devī Śoḍaśī is the third *Mahāvidyā*. She represents the power of perfection and sustenance. In the Tantra she is known as *Tripurasundarī* and *Śrīvidyā*. *Kāma* is the main aspect in worshipping *Tripurasundarī*. She is the main *Devī* of *Śrīvidyā* form of worship and is invoked either in the *Śrīyantra* or in her own *yantra*.³

1. *Mantramahodadhi*, III.11.

2. For more details, See *Mantramahodadhi*, ch. IV.83-88.

3. *Ibid.*, ch. XI, 3-10.

(4) *Bhuvaneśvarī (Yantra)* :

Bhuvaneśvarī is the fourth of the ten *Mahāvidyās*. She appears in her *yantra* seated on a star hexagon, which is associated with the transcendent immensity of both the male and female principles as one. With the colour of the rising sun and moon as her diadem, her anthropomorphic image placed in the center of the *yantra* is surrounded by two rings of eight and sixteen petalled lotuses.¹ in the *Bhuvaneśvarī Tantra* she is described as :

बालरविद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम् ।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम् ॥

(शाक्तप्रमोद-भुवनेश्वरीतन्त्र)

(5) *Chinnamastā (yantra)* :

Chinnamastā is also called *pracaṇḍa-caṇḍikā*. *Chinnamastā Tantra* and *Śaktisaṅgama Tantra*, etc. describe her real form, *yantra*, *mantra* and the procedure of worship. In the *Mantramahodadhi*, her *yantra* and procedure of worship of goddess *Chinnamastā* are described as under :

त्रिकोणमध्यष्टकोणपद्मभूपुरमध्यतः ।
बाह्यावरणमारभ्य पूजयेत्प्रतिलोमतः ।
भूपुराद्बाह्यभागेषु वज्रादीनि प्रपूजयेत् ॥²

It means on a *yantra* consisting of a triangle, hexagon, eight petals and a square, the *pūjaka*, beginning from the outer covering and proceeding in an inverse order, perform the worship. In the external side of the square the *vajra*, etc. weapons should be worshipped.

(6) *Tripurā Bhairavī (yantra)* :

Tripurā Bhairavī is the sixth *Mahāvidyā*. There are many forms of *Bhairavī* known by different names such as *Siddhi-Bhairavī*, *Caitanya-Bhairavī*, *Kamaleśvarī-Bhairavī*, etc. Her *yantra* is a hexagon placed within a circle of lotuses. The *Śāradātīlaka* describes *Tripurā Bhairavī* as :

1. Khanna, Madhu; *Yantra*, ch. IV, p. 58.

2. *Mantramahodadhi*, VI. 12cd-13, also see VI.6.

उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिनीं
 रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वराम् ।
 हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं
 देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्दे समन्दस्मिताम् ॥¹

(7) Dhūmāvātī (*yantra*) :

Devī Dhūmāvātī is known as the goddess of *uttarāmnāya*, who moves in a chariot having the flag marked by a crow. Dhūmāvātī is to be worshipped in her own *yantra* for the prosperity and destruction of enemies. In the *Mantramahodadhi*² the nature and importance of the Devī are described. Her *bīja-mantra* is 'dhūm'. Dhūmāvātī's *yantra* is a hexagon within an eight-petalled lotus.

(8) Bagalāmukhī (*yantra*) :

Goddess Bagalāmukhī is the eighth *Mahāvidyā*. Bagalāmukhī is meditated upon as holding the tongue of the enemy with one hand, and thrashing him with a club. By the grace of the Devī the adept becomes powerful enough to enchant the world.³ the *yantra* of Bagalāmukhī consisting of triangle, six triangles (hexagon), eight petals, sixteen petals and a *bhūpura*. As said in the *Mantramahodadhi* :

चन्दनागुरुचन्द्राद्यैः पूजार्थं यन्त्रमालिखेत् ।
 त्रिकोणं षड्दलाष्टास्त्रषोडशारधरापुरम् ॥⁴

This means the Devi should be worshipped in the center of the *yantra* with sandal-paste, *agara* and camphor, her *bīja-mantra* "hṛīm" should also be meditated upon.

1. Śāradātilaka, XII.31.

2. अत्युच्चैर्मलिनाम्बराखिलजनोद्वेगावहा दुर्मना
 रूक्षाक्षित्रितया विशालदशना सूर्योदरी चञ्चला ।
 प्रस्वेदाम्बुचिता क्षुधाकुलतनुः कृष्णातिरूक्षप्रभा
 ध्येया मुक्तकचा सदाप्रियकलिधूर्मावती मन्त्रिणा ॥ मन्त्रमहोदधि, VII.43.

3. बगलामुखीं त्रिजगतां संस्तम्भिनीं चिन्तयेत् ॥ *ibid.*, X.5cd.

4. *Ibid.*, X.7, also cf. X.1.

(9) *Mātaṅgī (yantra)* :

The ninth Mahāvidyā is Mātaṅgī. She is known by various names, such as : *Sumukhī*, *Ucchiṣṭacāṇḍālinī* and *Mahāpiśācinī*. Mātaṅgī also appears in various forms and names, such as : *Rāja-mātaṅgī*, *Vaśya-mātaṅgī*, *Karaṇa-mātaṅgī*, etc. Devī Mātaṅgī represents the power of domination, dispels evil and dispenses justice to all. The *Mantra-mahodadhi* states regarding her *yantra* and *pūjana* vidhi as :

त्रिकोणाष्टदलद्वन्द्वं कलास्त्रचतुरस्त्रकम् ।
पीठं कृत्वा यजेत्तस्मिन्पीठशक्तीर्नवेष्टदाः ॥¹

This means making a *yantra* (of Mātaṅgī) consisting of triangle, two set of eight petals, then sixteen petals and above it a square *bhūpura*, following nine Śaktis, who are fulfillers of desires, should be worshipped on that pedestal.

(10) *Kamalā (yantra)* :

Devī Kamalā is the tenth of the Mahāvidyās. From the name and the description it appears that Lakṣmī, the goddess of wealth and fortune of the Purāṇas is identical with the goddess Kamalā. The *yantra* of Kamalā is a hexagon placed within a circle of lotuses. The *Śāradātilaka* describes goddess Kamalā as :

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै-
र्हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम् ।
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बलसितां वन्देऽरविन्दस्थिताम् ॥²

This way, the above ten Mahāvidyās should be worshipped symbolically on their respective *yantras*, for attaining *dharma*, *artha*, *kāma* and *mokṣa*.

Maṇi and Śakti worship :

Maṇi (metallic stone) also used as a symbol for Śakti worship. According to P. V. Kane "five kinds of stones were used in worship, viz.

1. Ibid., VII.72.

2. Śāradātilaka, VIII. 4.

Bāṇa liṅga from Narmadā in Śiva worship, Śālagrāma in Viṣṇu worship, metallic stone in Durgā worship, crystal for sun worship and red stone in Ganesh worship.”¹ Detail references are not available on the symbolical worship of *maṇi*.

Trees/Plants and Śakti worship :

On the seventh day of the *Durgā pūjā*, with all its subsidiary rituals, starts with the bathing of the *navapatrikās* or the nine trees and plants (nine sprouts), bound together with an *aparājitā* creeper and covered with a *sārī* in the manner of a newly married girl. It is called *kalā-bau* in Bengali. *Kālā-bau* or *kalā-badhu* (plantain-wife) of nine plants and trees symbolically represent nine female deities, which are called nine Śaktis or *nava-Durgās*. At the time of worship each *patrikā* stands for a particular form of the goddess, which can be mentioned as under :

<i>Patrikās</i>	presiding deities	<i>bīja mantras</i>
1. Rambhā (Kadalī)	Brahmāṇi	oṃ rambhādhiṣṭhātryai brahmāṇyai namaḥ
2. Kacvī	Kālī (Kālikā)	oṃ kacvyadhiṣṭhātryai kālikāyai namaḥ
3. Haridrā	Durgā	oṃ haridrādhiṣṭhātryai durgāyai namaḥ
4. Jayantī	Kārtikī	oṃ jayantyādhiṣṭhātryai kārttikyai namaḥ
5. Bilva	Śiva	oṃ bilvādhiṣṭhātryai śivāyai namaḥ
6. Dāḍima	Raktadantikā	oṃ dāḍimvyādhiṣṭhātryai raktadantikāyai namaḥ
7. Aśoka	Śokarahitā	oṃ aśokādhiṣṭhātryai śokarahitāyai namaḥ
8. Māna	Cāmuṇḍā	oṃ mānādhiṣṭhātryai cāmuṇḍāyai namaḥ
9. Dhānya	Lakṣmī	oṃ dhānyādhiṣṭhātryai lakṣmyai namaḥ

These are the nine plants and trees (*nava-patrikās*), which are symbolically treated as the *nava-śaktis* or *nava-Durgās* during *Durgā pūjā*. In no way, these *patrikās* are considered as mere plants/trees, but on the other hand they are worshipped as the Divine Mothers through this symbolic (*kalā-vadhū*) tree.

1. Kāṇe, P.V.; *History of Dharmaśāstra*, Vol. II, part II, ch. XIX, p. 716.

Tulasī plant and Śakti worship :

Besides these *nava patrikās*, Tulasī plant is also symbolically represents *Tulasī Devī*, whom we worship as one of the most sacred plants. This plant reserves a special position in the heart of every religious Indian women. One who worships Tulasī plant ultimately. *Devī Tulasī* bestows on him peace, happiness and prosperity. In the *Tulasīmāhātmya*, it is said :

ध्यायेच्च तुलसीं देवीं श्यामां कमललोचनाम् ।
 प्रसन्नां पद्मकह्वारवराभयचतुर्भुजाम् ॥
 किरीटहारकेयूरकुण्डलादिविभूषिताम् ।
 धवलांशुकसंयुक्तां पद्मासननिषेदुषीम् ॥¹

Pītha and Śakti worship :

After *visarjana* of the goddess Durgā/Kālī, the skeleton of that goddess placed on the plank or *pītha* is worshipped symbolically. This is due to the all pervadingness of the *Devī*, whose creation and destruction is not possible practically. So it is clear that the *pītha* of the goddess Kālī/Durgā signifies the wholeness of the Divine Śakti.

Conclusion :

It may safely be concluded that various symbols like *yantra*, *maṇi*, plants and trees, etc. are used as the inherent essence of the Śakti worship, which are most essential to get every success, prosperity and final liberation (*mokṣa*). Though some minor differences are noticed in the various *yantras* or diagrams of the *daśa-mahāvidyās*, still there is an attempt for the unification of the symbolic *yantras* and the Divine Goddess or Divine Śakti.

1. Quoted in the *Elements of Hindu Iconography*, by T.A., Gopinath Rao, Vol. I, Part II, Appendix, p. 131 (MLBD, Delhi, 2nd Edn., 1993).

BUDDHIST TANTRIC TEXTS : A BIBLIOGRAPHY

— Banarsi Lal—

[This concise bibliography is an attempt to assemble information on Buddhist Tantric literature published in a book form and printed in journals. As we are aware not many works on Buddhist Tantras have been published and there is scope for new entries. At the close of the nineteenth century scholars in the West an emulating them in the Orient started editing of the tantric texts. The result of which has opened new fields of research. Since then remarkable texts have been brought to light by scholars and study groups engaged in the depth studies of these texts, which for negligence would have been irretrievably lost.

We hope that this modest attempt at presenting a bibliography of the texts on Tantra will be found useful and research value to by our scholars. We elicit information of such published works related with tantra from scholars and publishers of renown to add to this bibliography, which would be a growing concern for all of us.]

Abhidhānottaratantra

- Ed. by Dr. Lokesh Chandra, *Śata Piṭaka Series*, Vol. 263, International Academy of Indian Culture, New Delhi, 1981.
- *Selected Chapters from the Abhidhānottaratantra : The Union of Female and Male Deities*, Phill. Diss. by Kaliff Martin Michael, Columbia University, New York, 1973.

Abhisamayamañjarī

- Ed. Rare Buddhist Texts Research Unit (here after RBTRU), Central Institute of Higher Tibetan Studies (here after CIHTS) Sarnath, 1993.

Acintyādvayakramopadeśa

- See. Guhyādi-aṣṭasiddhi-saṅgraha.

Adhyātmāsārasatakam

- Ed. RBTRU, *Dhīḥ* (The Journal of Rare Buddhist Texts Research Unit) Vol. XXII, pp. 123-166, (Latter in Book form RBTRU, Sr. No. 19, CIHTS, 1997, with commentary).

Ādikarmapradīpa

- Ed. Hisao Takahashi, *Indogaku Mikkyogaku Kenkyo*, Prof. Yoshi Miyasaki, Feli. Vol. Japan, 1993, pp. 129-154.
- De La Vallee Poussin, *Buddhisme Etudes et Materiaux* (Mem. Acad. Belg.) 1898, pp. 177-232.

Advayasiddhi

- Ed. Malati J. Shendge, *Journal of Oriental Institute Baroda*, Vol. 13, 1963, No.1, Latter in Book from M.S. University, Oriental Sr. No. 8. Oriental Institute Baroda, 1964.
- Ed. RBTRU, CIHTS, See. *Guhyādi-aṣṭasiddhisamgraha*.
- *Advayasiddhi : The Tantric View of Laxminkara*, by Mishra Ram Prasad, Delhi, 1995.

Advayavajrasamgraha

- Ed. by H.P. Shastri, Oriental Institute, Baroda, 1927, GOS, No. XL.
- The Result of the Joint Study on the Buddhist Tantric Texts *Advayavajrasamgraha* new critical edition with Japanese translation.

Taisho Daigaku Sōgō Bukkyo Ken Kyujo Nennpo, (Annual of the Institute for Comprehensive Studies of Buddhism, Taisho University).

Part-I, 10 (1988) pp. 234-178

Part-II, 11 (1989) pp. 259-200

Part-III, 12 (1990) pp. 316 (49)-282 (83)

Part-IV, 13 (1991) pp. 291 (46)-242 (95)

Advayavivaraṇaprajñopāyaviniścayasiddhi

- See. *Guhyādi-aṣṭasiddhi-samgraha*.

Ālokamālā

- Ed. Chr. Lindtner, in *Mesellanea Buddhica*, pp. 109-221, Copenhagen, Akademisk Forlag, 1985.

Amanasikārāmnāya (Krama)

- Ed. G. Tucci, *Journal of Asiatic Society of Bengal*, 1930, pp. 148-155.
- Ed. S. Levi, *Un Nouveau Document sur le Bouddhisme de basse époque dans l'Inde*. In *Indian Studies*, Vol. in Honour of Edward James Rapson, reprint, 1985, Delhi, pp. 417-429.
- *Opera Minora*. Vol. I, pp. 195-238. (*Animadversiones Indicae*) A Sanskrit biography of Siddhas and some question connected with Nagārjuna, pp. 209-224.
- *Dhīh*, Vol. 10, pp. 8-12, 1990. CIHTS, Sarnath, Varanasi.

Amanasikārādhāra

- See. *Advayavajrasaṃgraha*.
- *A Comparative Study of the Amanasikārādhāra of Advayavajra*. Prof. S. K. Pathak, Proceeding and Transaction of the All India oriental conference. pp. 93-107, 1961, Poona.

Amoghapāśa-Kalparāja-Sūtra (dhāraṇī)

- Ed. R.O. Meisezahl, *Monumenta Nipponica*, Vol. XVIII, 1962, pp. 265-328.
- in *Studies of Esoteric Buddhism and Tantrism*, pp. 179-216, Koyasan University, Koyasan, 1965.
- Takayasu, Kimura, *Annual of the institute for Comprehensive Studies of Buddhism*, Taisho University, Vol.I, 1979, pp. 256-242.

Amṛtakanikā

- Ed. Banarsi Lal, CIHTS, Sarnath, 1994.
(See. *Mañjuśrīnāmasaṃgītī*)

Amṛtakanikodyota

- Ed. Banarsi Lal, CIHTS, Sarnath, 1994.
(See. *Mañjuśrīnāmasaṃgītī*)

Anantamukhadhāraṇī (Frag.)

- A.F.R. Hoernle, *Mss Remains*, p. 87, Oxford, 1916.

Aparimitāyurjñāna

- Ed. Max Walleser, Heidelberg, 1916, (A Dhāraṇī with Chin. Tib. and Ger. Tr.)

Aparimitāyussūtradhāraṇī

- Ed. Sten Know with Khotanese and Tib. *Mss Remains*, ed. R. Hoernle, Oxford, 1916.

Apratiṣṭhānaprakāśa

- See. *Advayavajrasaṃgraha*.

Āryamahāpratisarāvidyārājñidhāraṇī

- T. R. Shashni, *Dhīh*, Vol. 28, pp. 127-139, CIHTS, Sarnath, 1999.

Āryapratisarākālpadhāraṇī

- T. R. Shashni, *Dhīh*, Vol. 28, pp. 140-142, CIHTS, Sarnath, 1999.

Bauddha Gān O Dohā

- Ed. H. P. Shastri, Sahitya Parishat Granthavali, No. 55, Calcutta, 3rd. Edi., 1959.

Bauddhalaghugranthasaṃgraha

- Ed. Janardan Pandey, RBTRU, CIHTS, 1997.
(Collection of 11 Minor Buddhist tantric Texts).

Bauddhastotrasaṃgraha

- Ed. Janardan Pandey, Motilal Banarsidass, Delhi, 1994.

Bhagavatyāryatārādevyānamaskāraikāvīmśatistotram

- Dr. Lokesh Chandra, International Academy of Indian Culture, New Delhi.
- Janardan Pandey, *Bauddhastotrasaṃgraha*, pp. 79-80, MLBD, Delhi, 1994.

Cakrasaṃvaratantra

- Shinichi Tsuda, *Abhiṣekapaṭala of so called Cakrasaṃvaratantra*, Sanskrit Text and Japanese Translation, Buzan Gakuho, 21, (1976), pp. 154-140.

- Kazi Dawa Samdup, Tantric Texts, Vol. VII, Luzac and co. London, 1919. (Translation of some ritual texts.)
- Ed. RBTRU, CIHTS, Sarnath, Varanasi, 2002.
2 Volumes with commentary (Skt., Tib.).

Cakrasaṃvaraḥalividhi

- See, *Vidhisamgraha*.

Caṇḍamahāroṣaṇatantra

- George, S. Christopher, New Heven, American Oriental Society, 1974, (I-XIII Chapters only).

Caryāgītiśa

- P. C. Bagchi and S. B. Shastri, Shantiniketan, Vishwabharti, 1956.
- See. *Dohā-Gītiśa*.
- A collection of 50 Buddhistic songs by various Buddhist Siddhas, Prof. Per Kvaerne, Religion Shistorisk Institute, (University of Oslo) Postbooks - 1010, Blinderu, Oslo, 3, Norway. (*An Anthology of Buddhist Tantric Songs : A Study of Caryāgīti*, Per Kvaerne, Oslo 1977.)
- N. R. Sen, Advanced Studies, Shimla.

Caryāmelāpakapradīpa

- Ed. RBTRU, CIHTS, Sarnath, Varanasi, 2000.

Caturmudrā

- See. *Advayavajrasamgraha*.

Cittaviśuddhiprakaraṇa

- B. P. Patel, Vishwabharati, Shantiniketan, 1949, Vishwabharati Studies-8.
- H.P. Shastri, *Journal of Asiatic Society of Bengal*, Vol. 67, Calcutta, 1898, pp. 175-184.
- Bhag Chandra Jain, *Catuśataka*, Appendix-p. 161-169, Nagpur, 1971.

Dākārṇava (Mahāyoginītantrajāja)

- Nagendra, Narayan Choudhuri, *Studies in the Apabhraṁśa Text of Dākārṇava*, Calcutta Sanskrit Series, No.10, Calcutta, 1935.
- H. P. Shastri, Bangiya Sahitya Parishad, 1958, (included in *Bauddha Gan O Dohā*).

Dākinījālacakravartī Śrīsaṁvararahasya Nāma Sādhana and Maṇḍala-pūjāvidhi

- Ed. RBTRU, *Dhīh*-26, CIHTS, Varanasi, 1998, pp. 107-137.

Dākinījālasaṁvararahasyam

- Ed. RBTRU, CIHTS, Sarnath, 1990.

Dohākoṣa

- P. C. Bagchi, Calcutta Sanskrit Series-250, 1938.
- Rahul Samkriyayan, Bihar Rastra Bhasa Parishat, Patna, 1957.

Dohākośagīti of Kṛṣṇapāda and Tellopāda

- H. C. Bhayani, CIHTS, Sarnath, Varanasi.

Dohā-Gīti-Koṣa

- H. C. Bhayani, *Dohā-Gīti-Koṣa of Sarahapāda and Caryā-Gīti-Koṣa*, Prakrit Texts Society, Ahmadabad, 1997.

Dohākoṣaṭīkā of Amṛtavajra

- Ed. RBTRU, *Dhīh* Vol. 32, pp. 127-155, CIHTS, Varanasi-2001.

Guhyasamājantra

- Ed. S. Bagchi, *Buddhist Sanskrit Text*, No. 9, Mithila Institute Darbhanga, 1965.
- Ed. Benoytosh Bhattacharya, Oriental Institute, Baroda, 1931, reprint 1967.
- Fremantle, Francesca, *A Critical Study of Guhyasamājantra*, Ph.D. Diss. University of London, 1971.
- Yukei Matsunaga, *The Guhyasamājantra : A New Critical Edition*, Koyasan, 1978.
- Swami Dvarikidass, *Bauddha Bharati*, Varanasi, 1984.

Guhyasamājatantrapradīpodyotanaṭikāṣaṭkoṭivyākhyā

- Ed. Chintaharan Chakrabarty, Kashi Prasad Jaiswal Institute, Patna, 1984.

Guhyādi-aṣṭasiddhi-saṁgraha

- Ed. RBTRU, CIHTS, Sarnath, 1988, (Collection of eight Tantric Text of Siddhis)

Guhyasiddhi

- See. Guhyādi-aṣṭasiddhi-saṁgraha.

Guhyavajravilāsinīsādhanaṁ

- Ed. RBTRU, *Dhīḥ*, Vol. 17, pp. 6-17.
- Latter in *Bauddhalaghugranthasaṁgraha*, pp. 55-72, CIHTS, Sarnath, 1997.

Guhyāvalī

- Ed. RBTRU, *Dhīḥ*, Vol. 15, pp. 11-25, Tibetan Institute, Sarnath, Varanasi, 1993.
- See. *Bauddhalaghugranthasaṁgraha*, pp. 73-79, CIHTS, Sarnath, 1997.

Guṇavati-Mahāmāyātantraṭikā

- Ed. RBTRU, CIHTS, See. *Mahāmāyātantra*.

Guṇabharanī

- See. *Ṣaḍaṇagayoga*.

Gurupañcāśikā

- Ed. S. Levi, *Authour d Aśvaghōṣa*, Journal Asiatique, Vol. 215, 1929, pp. 259-263.
- Ed. RBTRU, *Dhīḥ*, Vol. 13, pp. 16-20, 1992, CIHTS, Sarnath. See. *Bauddhalaghugranthasaṁgraha*.

Hastapūjāvidhi

- See. *Vidhisamgraha*.

Hayagrīva-vidyā

- Ed. Nalinaksa Dutt, in *Gilgit Manuscripts*, Vol.I, Srinagar, 1939, pp. 41-46.

Herukādyavajravārāhīparamarahasyatantram

- Ed. RBTRU, *Dhīh*, Vol. 27, CIHTS, Sarnath, 1999, pp. 95-138.

Hevajatantra

- Ed. David, L. Snellgrove, *The Hevajatantra : A Critical Study*, School of Oriental and African Studies, University of London, London Oriental Sr. Vol. 6, Part 1-2, with *Yogaratnamālā*.
- Ed. Raghu Veer and Lokesh Chandra, *Kālacakratantra and other Texts*, International Academy of Indian Culture, New Delhi. 1966.
- Ed. G.W. Farrow & I. Menon, *The Concealed Essence of The Hevajatantra*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1992.
- Hevajatantra with *Muktāvalīpañjikā*, Ed. R. S. Tripathi and T. S. Negi, CIHTS, Sarnath, 2001.
- Bhagchandra Jain, *Sanmati Prācya Śōda Saṁsthāna*, Nagpur, 2000, with *Yogaratnamālā*.

Hevajrapañjikā Muktāvalī

- See. Hevajatantra.

Hevajatantrapīṇḍārthaṭīkā

- Francesco Sferra, *Serie Orientale*, Roma, Italy (Forthcoming).

Hevajrasekaprakriyā

- Finot, Louis, *Manuscrits Sanscrit de Sādhana retrouves en chine*, Journal Asiatique-CCXXV, No.I, (July-Sept.) 1934 .

Jñānodayatantra

- Ed. RBTRU, CIHTS, Sarnath, 1988.

Jñānasiddhi

- See. *Guhyādi-aṣṭasiddhi-saṁgraha*.
- See. *Two Vajrayāna Works*.

Jyotirmañjarī

- Skorupski, Tadeusz, *Jyotirmañjarī : Abhayākaraguptas Commentary on Homa Rits*, Bulletin of the Research Instt. of Esoteric Buddhist Culture, (*Mikkyo Bunka Kenkyūsho Kiyo*) 8, 1983.

Kālacakratantram

- Ed. Bishwanath Benerjee, The Asiatic Society, Calcutta, 1985.
- Ed. Raghu Veer and Lokesh Chandra, (*Kālacakratantra and other Texts*) IAIC, New Delhi, 1966.
- *Kālacakra Studies*, Prof. Helmuth Hoffman, Deptt. of Uralic and Alatic Studies, Goodbody Hall, Indiana University, Bloomington, Indiana. (working on Kalacakratantra).
- See. *Vimalaprabhā*.

Kālacakrabhagavatsādhana

- Ed. RBTRU, *Kālacakrabhagavatsādhana of Dharmākaraśānti, Dhiḥ*, Vol. 24, pp. 127-174, 1997.

Kālacakrapūjāvidhi

- Ed. RBTRU, *Dhiḥ*, Vol.25, CIHTS, Sarnath, 1998, pp. 165-188.

Kriyāsaṃgraha

- Ed. Lokesh Chandra, *Śatapīṭaka Sr.* Vol. 236, IAIC, New Delhi, 1977.
- Kriyasaṃgraha-Pañjikā (Partial translit.) in *Indogaku-Mikkyogaku Kenkyu*, 1993, Vol. 2, pp. 261-275.

Kriyasaṃgrahakārikā

- In *Bauddhalaghugranthasaṃgraha*, pp. 25-32, CIHTS, Sarnath, 1997.

Kriyāsamuccaya

- Ed. Lokesh Chandra, *Śatapīṭaka Sr.*, Vol. 237, IAIC, New Delhi, 1977.

Kṛṣṇayamāritantra (with *Ratnāvalī* Commentary)

- Ed. RBTRU, CIHTS, Sarnath, 1992.

Kudṛṣṭinirghātanam

- See. *Advayavajrasaṁgraha*.

Kurukullākalpa

- Ed. RBTRU, *Dhīḥ*, Vol. 30, Review of Rare Buddhist Texts Research Unit, CIHTS, 2000, pp. 211-250, Latter in Book form with Tibetan version RBTS, No. 24. CIHTS, Sarnath, Varanasi, 2001.

Khasamatantraṭikā Khasamā

- Ed. Jagannath Upadhyaya, *Samkāya Patrikā*, Vol. I, pp. 224-55 Sanskrit University, Varanasi, 1983.

Laghutantraṭikā

- Ed. Claudio Cicuzza, (With English Translation) Series Oriental, Roma, Italy IsMeo, (Forthcoming). Commentary on Ist *Paṭala* of *Cakrasaṁvaratantra*.

Madhyakaṣaṭka

- See. *Advayavajrasaṁgraha*.

Mahākālatantra

- *The Mahākālatantram : Theory of Ritual Blessing and Tantric Medicine* - by Stablein William George, Ph.D. Diss. Columbia University, New York.

Mahāmāyātantra (With Guṇavatī)

- Ed. RBTRU. CIHTS, Sarnath, Varanasi, 1992.

Mahāmāyūrī

- Ed. S. Levi, *Journal Asiatique*, 1915, Partly reprinted in *Journal of U.P. Historical Society*, Vol. XV, Part-2, 1942.
- P.C. Bagchi, in *The Geographical Catalogue of the Yakṣas in the Mahāmāyūrī*, Sino Indian Studies, Vol. 3, Parts 1-2, 1947, pp. 13-87.

Mahāsannipāta-Ratnaketu-dhāraṇī

- Ed. N. Dutta and S. N. Sharma in *Gilgit Manuscripts*, Vol. IV, Calcutta, 1959, pp. 114-116.

Mahāsukhaprakāśa

- See. *Advayavajrasaṅgraha*.

Mahāyānaviṃśikā

- See. *Advayavajrasaṅgraha*.

Mañjuśrīmūlakalpa

- Ed. P. L. Vaidya, Mithila Institute, Darbhanga, 1964, BST. No. 18, *Mahāyānasūtra Saṅgraha*, Vol. 2.
- Ed. Ganapatiśāstri, *Trivendrum Sanskrit Series* (in 3 vols.) Trivendrum, 1920-1925.
- Rahul Samkriyayan, in *An Imperial History of India*, by K. P. Jayaswal, Lahore, 1934, (partial - *rājavyākaraṇapārivarta*)

Mañjuśrīnāmasaṅgīti

- Ed. Alex Wayman, *Chanting the Names of Mañjuśrī*, Shambhala Publication, 1985.
- Ed. Durga Dass Mukherjee, University of Calcutta, 1963.
- Ed. Ronald M. Davidson, *The Litany of Names of Mañjuśrī*, Tantric and Taoist Studies, in honor of R. A. Stein, Vol., Bruxells 1981.
- Ed. I. P. Minayeff. St. Petersburg, Historico Philological Faculty, Vol. 16, 1887, pp. 137-159.
- Ed. Banarsi Lal, with Amṛtakaṇikā and Amṛtakaṇikodyota, CIHTS, Sarnath, 1994.
- Ed. Raghu Veer, *Śatapīṭaka Series*. Vol. 18, International Academy of Indian Culture, New Delhi.

Mantrapāṭha

- See. *Vidhisamgraha*.

Māyānirukti

- See. *Advayavajrasaṅgraha*.

Mulāpatti-Sthūlāpatti

- See. *Advayavajrasaṅgraha*.

Navaśloki

- Ed. G. Tucci, *Minor Buddhist Texts*, pp. 209-231 Istituto Italiano per il Medio ed Estremo Oriente, Roma, 1956.
- *Dhīh*, Vol. 8, pp. 14, RBTRU, CIHTS, Sarnath, 1989.
- Ed. RBTRU, with Skt. Commentary and Tib. in *Baudhalaghu-granthasamgraha (A Collection of Minor Buddhist Texts)*, pp. 1-23, CIHTS, Sarnath, 1997.

Nāmamantrārthāvalokinī

- Ed. Sakurai, Sanskrit and Tibetan Text of Chapter 3rd and 4th. (?)

Nānāsiddhopadeśa

- *Dhīh*, Vol. 13, pp. 15-18, RBTRU, CIHTS, Sarnath, 1994, Latter included in *Bauddhalaghugrantha-samgraha (Collection of Minor Buddhist Texts)*.

Nārāyaṇapariṣcchā

- Ed. Anukul Chandra Banerjee, University of Calcutta, 1941.

Nirbedhapañcaka

- See. *Advayavajrasamgraha*.

Nityakarmapūjāvidhih

- Ed. RBTRU, *Dhīh*, Vol. 33, pp. 155-166, CIHTS, Sarnath, Varanasi-2002.

Niṣpannayogāvalī

- Ed. B. Bhattacharya, Oriental Institute, Baroda, GOS. No. CIX, 1949.
- *Two Sanskrit Mss. from Nepal*, Compiled by Gudrun Buhnemann and Musashi Tachikawa, (Bibliotheca Codicum Asiaticorum 5), Tokyo, The Centre for East Asian Culture Studies, 1991, XXII.

Nilakaṇṭhadhārāṇi (Frag.)

- Ed. L. V. Poussin and R. Grauthiot, JRAS, 1912, p. 629 ff., S. Levi, ibid p. 1963.

Pañcakrama

- Ed. Luis De La Vallee Pounssin, *Etudes et Texts Tantriques*, Gand & Loavain, Universite de Gand, 1896, VI, 56 pp. (Included *Piṇḍikṛta Sādhana* also).
- Ed. R. S. Tripathi, CIHTS, Sarnath, Varanasi-2001.
- Ed. Katsumi, Mimaki and Taru Tomabechi, Sanskrit and Tibetan Text, The Centre for East Asian Cultural Studies for Unesco, 1994. (Bibliotheca Codicum Asiaticorum-8).

Pañcakramaṭippanī Yogimanoharā

- Zhongxin & Toru Tomabechi, Peter Lang, Berne, 1996.

Pañcatathāgatamudrāvivarāṇa

- See. *Advayavajrasaṃgraha*.

Pañcākāra

- *Dhīḥ*, Vol. 17, pp. 19-20, CIHTS, Sarnath, 1994, Included in *Bauddhalaghugranthasaṃgraha* (Collection of Minor Buddhist Texts, CIHTS, Sarnath, 1997).

Pañcākārābhisambodhi

- *Dhīḥ*, Vol. 17, pp. 20-22, CIHTS, Sarnath, 1994, Included in *Bauddhalaghugranthasaṃgraha* (Collection of Minor Buddhist Texts, CIHTS, Sarnath, 1997).

Pañcarakṣā

- See. *Mahāmāyūrī*.

Pradīpodyotana

- See. *Guhyasamājatantra Pradīpodyotanaṣaṭkotivyaḥyā*.

Paramārthasevā

- The Skt. text was critically ed. and translated into Japanese by Shinten Sakai, Indogaku Bukkogaku Kenkyo, Vol. 8, No. 1, Jan. 1960, p. 359 (According to this reference Skt. text was ed. but this article does not contain text in Sanskrit.)

Paramākṣarajñānsiddhi

- Ed. Raniero Gnoli, IsMeo, Roma, Italy, (Forthcoming, fifth chapter of *Vimalaprabhā*).

Pinḍikṛtasādhana

- See. *Pañcakrama*.

Prajñopāyaviniścayasiddhi

- See. *Guhyādi-aṣṭasiddhi-saṁgraha* and *Two Vajrayāna Works*.

Pratyāṅgirādhārāṇī (Frag.)

- *Mss. Remains*, p. 53, A.F.R. Hoernle.

Premapañcaka

- See. *Advayavajrasaṁgraha*.

Rahasyadīpikā

- See. *Vasantatilaka*.

Ratnaketu-parivarta or Dhārāṇī

- Nalinaksha Dutt and Shiva Nath Sharma Shastri, in *Gilgit Manuscripts*, Vol. 4, Calcutta, 1959, pp. 1-138, Reprint, Delhi, Sri Satguru Publications, 1984.

Ratnāvalīpañjikā

- See. *Kṛṣṇayamāritantram*.

Sāadhanamālā

- Ed. B. Bhattacharya, Oriental Institute, Baroda, 2 Vols. Sr. 26 & 41, 1968.

Ṣaḍaṅgayoga

- Ed. Francesco Sferra, IsMeo, Roma, Italy, (forthcoming).

Ṣaṇmukhī-dhārāṇī

- Ed. Katsumi Mimaki, Nihon Chibetto Gakukai Kaiho, No. 23, 1977, pp. 9-13.

Sahajasiddhi

- Ed. Malati, J. Shendge, Indo-Iranian Journal, Vol. 10, Part 2-3, 1967.
- See. *Guhyādi-aṣṭasiddhi-saṁgraha*.

Samputatantra

- Ed. Elder George Robert, Edition and translation. Chapter I-IV, Ph.D. Dissertation, Columbia University, 1978.

- Tadeusz Skorupski, *The Samputatantra*, Skt. and Tib. version of chapter-I, *The Buddhist Forum-IV*, pp. 191-244, 1996.
- Ed. Shinichi Tsuda, *Samputodbhava Tantra*, The Skt. text of first Prakaraṇa of 2nd Kalpa, Okuda Comm. Vol. pp. 1031-1046. Kyoto, Heirakuzi Shoten, 1976.
- Editing in progress, with Tib. Text, RBTRU, CIHTS, Sarnath, Varanasi.
- Keiya Noguchi, Shuchiin University. (Engaged in ed. of the Skt. text and Japanese translation, works follows :)
- I. Indogaku Bukkyogaku Kenkyo 32, 2, (1984), pp. 726 (168)-727 (169).
- II. Buzan Gakuho 31 (1986) pp. 80 (39)-56 (63).
- III. Indogaku Bukkyogaku Kenkyo 34, 2, (1986), pp. 834 (125) - 831 (128).
- IV. Mikkyo Zuza, 5 (1987) pp. 1-14.
- V. Indogaku Bukkyogaku Kenkyo 36, 1 (1987), pp. 348 (134)-346 (136).
- VI. Mikkyogaku Kenkyu, 19 (1987) pp. 65-86.
- VII. Taisho Daigaku Sōgō Bukkyo Kenkyūjo Nenpo, 9 (1987), p. 160.
- VIII. Buzan Gakuho, 33 (1988) pp. 64 (75)-47 (92).
- IX. Taisho Daigaku Sōgō Bukkyo-Kenkyiyo Nenpo, 11, (1989), p. 157.

Samvarodayatantra

- Ed. Shinichi Tsuda, *The Samvarodayatantra Selected Chapters*, Hokuseido Press, Tokyo, 1974.
- *Tattvanirdeśa Paṭala of Samvarodayatantra*, Bukkyogaku-I, 1976, pp. 27-44.
- Ed. Naresh Man Bajracharya, *Samvarodayatantra* (I-IV Ch.) in *Gems of Buddhism*, ed. by Sushma Kulashreshtha, Eastern Book Linkers, Delhi-1996.

- *Critical Study of Saṃvarodayatantra with its Comm. by Ratnarakṣita* (1-7 Chap.) - Jampa Samten, Ph.D. Diss. Vishwa Bharati University, Shantiniketan, 1995.

Saṃcāranibandha

- See. *Yoginīsaṃcāratāntram*.

Sarvadurgatipariśodhanatantra

- Ed. Tadeusz Skorupski, Motilal Banarsidass, Delhi, (Skt. & Tib.) 1983.

Sarvarahasyatantra

- Ed. Alex Wayman (Tib. Text) *Acta Indologica*, Vol. VI, 1984, pp. 521-569, (Studies of Mysticism in Honour of the 1150th Anniversary of Kobo Daishi Nirvāṇa).

Sarvatathāgatātattvasaṃgraha

- Ed. Lokesh Chandra, Motilal Banarsidass, Delhi, 1987.
- Ed. Isshi Yamada, *Sarvatathāgatātattvasaṃgraha : A Critical Edition based on Sanskrit Ms and Chinese & Tibetan Translation*, Śatapiṭaka Series, International Academy of Indian Culture, New Delhi, 1980.
- Kanjin Horiuchi, *Sarvatathāgatātattvasaṃgraha* (Skt. Text, Koyasan Daigaku Gakuho, Vol. 3, 6, 6 & Mikkyo Bunka Nos. 90, 91, 97, 98, 103, 104, (Ref. *Indian Buddhism*).

Sarvavajrodāya

- Skt. Text and Japanese Translation, (Maṇḍalopāyika based on Ch. I of Tattvasaṃgraha), A Society for the study of Esoteric Buddhist Scriptures, Taisho University, Mikkyo Seiten Kenkyu Kai, Bulletin of Institute of Buddhist Studies in Taisho University, Taisho Daigaku Sōgō Bukkyo Kenkyosho Nenpo), 9:13-85.

Sekakriyākrama

- See. *Vidhisāṃgraha*.

Sekanirṇaya

- See. *Advayavajrasaṃgraha*.

Sekatānvayaśaṃgraha

- See. *Advayavajrasaṃgraha*.

Sekoddeśa

- Ed. Giacomella Orofino, Istituto Italiano Per il Medio ed Istremo Oriente, Roma, 1994 (Partly restored).
- Ed. R. Gnoli, *Dhīh*, Vol. 28, 1999, CIHTS, Sarnath, Varanasi.

Sekoddeśaṭīkā

- Ed. Mario, E Carelli, Baroda, Oriental Institute, Sr. No. XL, 1941.

Sekoddeśaṭippaṇī and Pañjikā

- Ed. Raniero Gnoli, (Skt. Tib. Trans.) IsMeo, Roma, Italy, (Forthcoming).

Sekoddeśapañjikā

- *Bonbun Sekoddeśa Pañjikā Tekisntoni tsuite*, Taisho Daigaku Sōgō Bokkyo Kenkyujo Nenpo, 16 (1994), pp. 360 (1)-289 (72).

Sekoddeśaṭippaṇī

- *Rivitsa*, Degli Studio Orientalia, LXX (1-2), 1996, Ed. by R. Gnoli.

Siddhaikavīramahātantra

- *Dhīh*, Vol. XXIII, 1997, pp. 143-166, CIHTS, Latter in Book form with Tib. Text, RBTRU, CIHTS, Sarnath, 1997.
- *Siddhaikavīramahātantra*, I-Chap. Annual of the Institute for Comprehensive Studies of Buddhism, Taisho University, No. 17, March 1995, pp. 366-349.

Sitātapatrā

- Ed. RBTRU, *Dhīh*, Vol. 33, pp. 145-154, CIHTS, Sarnath, Varanasi-2002

Śmaśānaviddhi

- See. *Vidhisamgraha*.

Subhāṣitasamgraha

- Ed. C. Bendall, *Le Museon*, Nos. IV-V, Louvain, 1903-1904, pp. 375-402, 5-46, 246-274.

Sūtratantrodभवāḥ Katipayadhāraṇī-mantrāḥ

- Ed. T. R. Shashni, R.B.T. Sr. No. 16, CIHTS, Sarnath, 1997.

Svādhiṣṭhānaprabheda

- *Dhīḥ*, Vol. 10, pp. 20-24, RBTRU, CIHTS, Sarnath, 1990. Latter in *Bauddhalaghugranthasaṃgraha (A Collection of Minor Buddhist Texts)*, CIHTS, Sarnath, 1997.

Svapananirukti

- See. *Advayavajrasaṃgraha*.

Tantric Prajñāpāramitā Text

- Ed. Edward Conze, *Sino-Indian Studies*, Shantiniketan, Vol. V, Part-2, 1956, pp. 100-122.

Tantrikagrantha

- Ed. S. Levi, *IHQ*, XII, p. 209 ff. (Frag. not identified).

Tattvaparakāśa

- See. *Advayavajrasaṃgraha*.

Tattvajñānasamsiddhi

- With Comm. *Mahāsukhaprakāśikā*, Dharmodaya Sabha, Kathmandu, Nepal.

Tattvajñānasamsiddhi with Pañjikā

- Ed. RBTRU, CIHTS, Sarnath, Varanasi, 2000.

Tattvadaśaka

- See. *Advayavajrasaṃgraha*.

Tattvaratnāloka

- *Dhīḥ*, XXI, pp. 129-149, RBTRU, CIHTS, Sarnath, 1996.

Tattvaratnālokaavyākhyāna

- See. *Tattvaratnāloka*, latter both published in *Bauddhalaghugranthasaṃgraha (A Collection of Minor Buddhist Texts)*, Skt. and Tib., CIHTS, Sarnath, 1997.

Tattvaratnāvalī

- See. *Advayavajrasaṃgraha*.

Tattvasiddhi

- Ed. S. Rinpoche, K. N. Mishra, Tibetan Institute, Sarnath, (Forthcoming).
- Indogaku Mikkyogaku Kenkyu, Prof. Yoshi Miyasaka Feli, Vol. Japan, Kyoto, 1993, pp. 157-199.

Tattvasvabhāvadṛṣṭigītikādhā of Lūhipāda

- Tib. and Original Comp. Anath nath Basu, IHQ, III, pp. 676-682.

Tattvavimśikā

- See. *Advayavajrasaṃgraha*.

Two Vajrayāna Works

- *Jñānsiddhi and Prajñopāyavinīscayasiddhi*, ed. B. Bhattacharya, Oriental Institute, Baroda, 1929.
- See. *Guhyādi-aṣṭasiddhisamgraha*.

Uṣṇīṣavijaya-dhāraṇī

- F. Max Muller and Bunyio Nanjio, Oxford, 1884.
- Ed. M. Muller, An. Ox. Aryan, Ser. I, pt. 3.

Upadeśānusārīṇīvyākhyā

- See. *Yoginīsañcāraṇam*.

Vajradhātumaṇḍalopāyikā

- See. *Sarvavajrodaya*.

Vajrāvalī

- Ed. Lokesh Chandra, Śatapitaka Sries, Vol. 239. International Academy of Indian Culture, New Delhi, 1977.

Vajrāvalīnāmamaṇḍalopāyikā

- Mori Masahide, Ph. D. Diss. School of Oriental and African Studies, Thronhaugh Street, Russel Square, London.

Vajravārāḥisādhana

- See. *Vidhisamgraha*.

Vajrayoginītantra (?) (Frag.)

- S. Levi, BSOS, VI, pt. 2.
- D. C. Bhattacharya, in *Tantric and Taoist Studies*, in Honour of R. A. Stein, ed. Michel Strickmann, Vol. I, pp. 70-95, Bruxeller, 1981. *Melanges Chinois et Bouddhiques*, 20.

Vasantatilaka

- With Comm. *Rahasyadīpikā*, Ed. RBTRU, CIHTS, Sarnath, 1991.

Vasudharā-dhārāṇī

- J. Masuda, Supplement to *Journal of the Taisho University*, Vol. 2, 1927, pp. 1-8.

Vimalaprabhā

- Ed. Jagannath Upadhyaya, Vol. I, CIHTS, Sarnath, 1986.
- Ed. RBTRU, Vol. II-III, CIHTS, Sarnath, 1994.

Vidhisamgraha (Seven Tantric Texts)

- Louis Finot, in *Manuscripts Sanscrits de Sādhana Retrouvés en Chine*, *Journal Asiatique*, Jul-Sept. 1934, pp. 1-86, text on pp. 49-78.

Vyaktabhāvānugatattvasiddhi

- See. *Guhyādi-aṣṭasiddhisamgraha*.

Yogaratnamālā

- See. *Hevajratantra*.

Yoginīsañcāratantra

- Ed. RBTRU, CIHTS, Sarnath, with two Skt. Comm. and Tibetan text.) RBTS. No. 21, 1998.

Yuganaddhaprakāśa

- See. *Advayavajrasamgraha*.

मण्डलसाधनविधिः
MAṆḌALASĀDHANAVIDHIḤ

सम्पादन में प्रयुक्त आदर्श प्रति—

मण्डलसाधनविधि: - इन्स्टीच्यूट फॉर एडवांस स्टडीज़ ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स,
न्यूयार्क।

एम० बी० बी० - 1973-272

लिपि - नेवारी

पत्र सं० - 23 (63-85)

नेपाली कागज़

मण्डलसाधनविधिः

ॐ नमः श्रीवज्रसत्त्वाय ।

आदौ गुरुमण्डलं त्रिसमाधिबलिदानं च कृत्वा देवताधिवासनं कुर्यात् ।
ततः सुगन्धजलेन मण्डलभूमिमभिप्रोक्ष्य ॐ भूः खमिति पठन्नाकाशीकुर्यात् ।
मण्डलसाङ्गीतवज्रमेष(षा) भूमिभावना । ततो हूँ लँ हूँ इत्यनेन वज्रमयीं भूमिं
विभाव्य । धूप ।

समन्वाहरन्तु मां बुद्धा अशेषा दिक्षु संस्थिताः ।
इहाहममुको वज्री वर्त्तयिष्यामि मण्डलम् ॥

आयात सर्वबुद्धौघाः सिद्धिमेनां प्रदास्यथ ।
अद्य मे सफलं जन्म सफलं जीवितं च मे ॥

समयं [सर्व] बुद्धानां भावितोऽहं न संशयः ।
अवैवर्त्तो भविष्यामि बोधिचित्तैक [चेतसा] ॥

विघ्नवृन्दानि । नीलपीतहरितमूलसव्येतरव्यात्त(ड)वक्त्रा त्रयो दंष्ट्रोत्कट-
ललज्जिह्वः प्रतिमुखं सभ्रूभङ्गकुटिलरक्तवर्णत्रिनेत्रः षण्मुद्रा ललाटपञ्चकपाल-
मालावलम्बिगलदस्त्रशिरःश्रेणीविभूषणः समुण्डमेखला व्याघ्रचर्माम्बरधरो नीला-
नन्तवलयितोऽर्द्धज्वलत्कपिलकुन्तलस्तक्षकादिनागराजकृतमण्डनो वज्रघण्टा-
न्वितकराभ्यां वज्रमुष्टिद्वयपृष्ठलग्नकनिष्ठाद्वयशृङ्खलितं प्रसृततर्जनीद्वयमिति
त्रैलोक्यविजयमुद्रया स्वाभप्रज्ञासमापन्नः सव्यकराभ्यां अङ्कुशपाशौ वामाभ्यां
कपालखट्वाङ्गं दधानो गर्जद् हूँकारमुखः तांश्चकीलकांश्छत्रैः पञ्चोपहारैर्बलि-
दानैश्च पूजयेत् ।

राग भैरवी ।

ॐ खवज्रधृक् वज्रहूँकारारे कालि रात्रि रिपु चापयियारे २ ।

फलयि अनन्तमहाक्रोधारे अल्पयविघ्नसमूहारे ॥

घ घ घातय 2 सर्वदुष्टरे कीलय हूँ फट् पापहरे 2 ।
ॐ वज्रकीलय वज्रधर आज्ञा कायवाक्चित्त कीलरे ॥

श्रीवज्र स आराधियारे अनुत्तरसिद्धिपदमोक्षफलदम् ।
पूर्वादिद्वारे काकाननरे भीमाञ्जनद्युतिघोररूपा 2 ।
चण्डोग्रभीषणश्मशानारे देवाधिपतिगणकीलयन्ति ॥

पूर्वे काकास्यां भगवतीमाकर्षयेत् । ॐ काकास्ये घ घ घातय 2
सर्वदुष्टदेवेन्द्रान् सपरिवारान् कीलय हूँ फट् । ॐ काकास्ये हूँ 2 फट् । पं लां घं
स्तुत ।

पूर्वे सुरेण मथनीं भीमाञ्जनद्युतिप्रभाम् ।
घोररूपां प्रचण्डाक्षीं काकशुण्डां नमाम्यहम् ॥

श्रीवज्रसत्त्व ।

उत्तरे दिग्द्वारे उलूकाननरे श्यामवर्णतनुभीमजयना 2 ।
रौद्रगह्वरे महाश्मशानारे यक्षाधिपतिगणं कीलयन्ति(न्तीम्) ॥

उत्तरे उलूकास्यां भगवतीमाकर्षयेत् । ॐ उलूकास्ये घ घ घातय 2
सर्वदुष्टयक्षान् सपरिवारान् कीलय हूँ फट् । ॐ उलूकास्ये हूँ 2 फट् । पं लां घं
स्तुत ।

उत्तरे यक्षराड्यूथं मथनीं श्यामवर्त्तिकाम् ।
महाक्षीं भीमरूपां च उलूकास्यां नमाम्यहम् ॥

पश्चिमदिग्द्वारे श्वानाननरे सिंदूरारुणतनुविकटरूपा 2 ।
ज्वालाकुलमहाश्मशानारे भुजंगाधिपतिगणं कीलयन्ति(न्ती) ॥

पश्चिमे श्वानास्यां भगवतीमाकर्षयेत् । ॐ श्वानास्ये घ घ घातय 2
सर्वदुष्टवरुणान् सपरिवारान् कीलय हूँ फट् । ॐ श्वानास्ये हूँ 2 फट् । पं लां घं
स्तुत ।

पश्चिमे रक्तवर्णाङ्गीं नागाधिपतिमर्दिनीम् ।
घोराट्टहासविकटां श्वानास्यां [च] नमाम्यहम् ॥

दक्षिणदिग्द्वारे सूकराननरे कनकनिभदेहा घघननादी 2 ।
करङ्कभैरवमहाश्मशानारे प्रेताधिपतिगणं कीलयन्ति(न्ती) ॥

दक्षिणे सूकरास्यां भगवतीमाकर्षयेत् । ॐ सूकरास्ये घ घ घातय 2
सर्वदुष्टयमान् सपरिवारान् कीलय हूँ फट् । ॐ सूकरास्ये हूँ 2 फट् । पं लां घं
स्तुत ।

दक्षिणे हेमवर्णाङ्गी कृतान्तदर्पहारिणीम् ।
घोरघघननादीं च नमामि सूकराननाम् ॥

दहनवरकोणे देवी यमदाढीरे कृष्णपीताभा प्रचण्डरूपा 2 ।
अट्टहासश्मशानारे तेजोऽधिपतिगणं कीलयन्ति(न्ती) ॥

अग्नौ यमदाढीं भगवतीमाकर्षयेत् । ॐ यमदाढीये घ घ घातय 2
सर्वदुष्टाग्नीन् सपरिवारान् कीलय हूँ 2 फट् । ॐ यमदाढीये हूँ फट् । पं लां घं
स्तुत ।

अग्नौ मानापहादेवीं कृष्णपीताभा[वि]ग्रहाम् ।
दहनाधिपतिमग्निं यमदाढीं नमाम्यहम् ॥

दितिजवरकोणे देवी यमदूती पीतारुणतनुक्रोधरूपा 2 ।
लक्ष्मीवनहुताशनमहाश्मशाने राक्षसाधिपतिगणं कीलयन्ति(न्ती) ॥

नैऋत्ये यमदूतीं भगवतीमाकर्षयेत् । ॐ यमदूतीये घ 2 घातय 2
सर्वदुष्टनैऋत्यान् सपरिवारान् कीलय हूँ फट् । ॐ यमदूती हूँ 2 फट् । पं लां घं
स्तुत ।

नैऋत्ये पीतरक्ताभां क्रव्यादाधिपतिमर्द्दिनीम् ।
घोराट्टहासवदनां यमदूतीं नमाम्यहम् ॥

वायव्यकोणे देवी यमदंष्ट्री रक्तश्यामतनुकरालवदना 2 ।
घोरान्धकारभीषणमहाश्मशानारे वाताधिपतिगणं कीलयन्ति(न्ती) ॥

वायव्ये यमदंष्ट्रीं भगवतीमाकर्षयेत् । ॐ यमदंष्ट्रीये घ 2 घातय 2
सर्वदुष्टवायून् सपरिवारान् कीलय हूँ फट् । ॐ यमदंष्ट्रीये हूँ 2 फट् । पं लां घं
स्तुत ।

वायव्ये रक्तश्यामाङ्गीं श्वसनाधिपतिमर्दिनीम् ।
माना(रा)रीं भयरौद्रीं च यमदंष्ट्रीं नमाम्यहम् ॥

ईशानकोणे देवी यममथनीये श्यामकृष्णाभा विकटरूपा [2] ।
रौद्रकिलिकिलारवमहाश्मशाने भूताधिपतिगणं कीलयन्ति(न्ती) ॥

ईशाने यममथनीं भगवतीमाकर्षयेत् । ॐ यममथनीये घ 2 घातय 2
सर्वदुष्टेशान् सपरिवारान् कीलय हूँ फट् । ॐ यममथनीये हूँ 2 फट् । पं लां घं
स्तुत ।

ईशाने श्यामकृष्णाङ्गीं सुगणदर्पहारिणीम् ।
मारारिध्वंसनीं देवीं यममथनीं नमाम्यहम् ॥

उष्णीषचक्रवर्ति ऊर्ध्वसंस्थिता मारविघ्नहरपीतदाहा 2 ।
ब्रह्मारविशशिग्रहगणसकलखेचरमारगणं कीलयन्ति(न्ती) ॥

उष्णीषचक्रवर्तिनं महाक्रोधराजमाकर्षयेत् । ॐ उष्णीषचक्रवर्तिन् महा-
क्रोधराज घ 2 घातय 2 सर्वदुष्टब्रह्मादीन् सपरिवारान् कीलय हूँ फट् । ॐ
उष्णीषचक्रवर्तिये हूँ स्वाहा । पं लां घं स्तुत ।

ब्रह्मेन्द्रकादयो (दिकान्) दुष्टान् ग्रहगणादिखेचरान् ।
मारारिध्वंसनं नाथं उष्णीषचक्रवर्ति नमाम्यहम् ॥

सुम्भराजक्रोध अतिनीलमूर्तिः पातालगामिनी मारहरणं 2 ।
पृथ्वी-असुरगणशेषनागादिभूचरमारगणं कीलयन्ति(न्ती) ॥

अधः सुम्भराजं महाक्रोधराजमाकर्षयेत् । ॐ सुम्भराज घ 2 घातय 2
सर्वदुष्टपृथिवीसपरिवारान् कीलय हूँ फट् । ॐ आः सुम्भराजाय स्वाहा । पं लां
घं स्तुत ।

पृथ्वी नागाऽसुरान् दुष्टान् दग्धदृष्टीन् स मर्दितुम् ।
यथेच्छा सिद्धिदातारं सुम्भराजं नमाम्यहम् ॥

दहदिहया हूँकाराने(रे) प्रणमामि दशक्रोधारे २ ।
आसा परिपूरय दानपतिरे सर्वविघ्ननिवारे रुरे (?) ॥

यः सत्त्वार्थाय नित्यं प्रकटितविकटाटोपहूँकारनाद-
स्तस्य विघ्नोपशेषा घटितघनघनं भागीय सानन्दमूर्तिः ।
हँ सौं जःकारकाव्यग्रहरविरु(व)दनो दारुदुःखप्रनष्टा-
दिक्कालक्रोधवज्री धृतकरकमलं क्रोधराजं नमामि ॥

राग—मधुमत(ती) ।

प्रमुदितादि दशभूमिसु...(?) मेरुमण्डलसंस्थितलयना २ ।
द्वादशभुजचारुवदनसुशोभिता वज्रवाराहिकण्ठेषु आलिङ्गिता ॥ ध्रु० ॥

हूँ हूँ हूँ दह दिह स्फरणा मारे सय(अ)ल संबोधियारे २ ।
द्वंद्वाऽलिङ्गण अद्वयसंभावे नाचयि दारे सम्बरराया ॥

कुलिशघण्टगजचर्मत्रिशूला करतिडमरुस(क)सुशोभिता २ ।
रक्तपूरितकपालखट्वाङ्गे पाशपरशु ब्रह्मशिरो ग्रहणा ॥

पञ्चजिनवरमकुट अलंकृत षण्मुद्रा आभरण विभूषिता २ ।
आलिकालि दुयि आलीढ वापयि व्याघ्रचर्मनिवासन कृष्णतनु ॥

नरशिरमालालम्बश्रीसम्बर दिव्यवक्ष त्रीणि करु हिया २ ।
जन्म जन्म मौलितुं जपाय शरणे गावन्ति प[र]मादिवा[त्र]गीता ॥ ध्रु० ॥

नृत्येनाक्रम्य पद्भ्यां शिरसि कुचतटे त्र्यम्बकस्कन्धमात्रे
वज्रादिव्यग्रपाणौ परिगतशिखरं शीर्षमालेन्दुमौली ।
वाराहीश्लिष्टकण्ठो घनमिवतरि(डि)तं नागवर्योत्तरीयः
पायाच्छ्रीसम्बरो वस्त्रिभुवनविजयी डाकिनीचक्रवर्ती ॥

तांश्च कीलकान् निरुपद्रवे स्थापयेत् । इति विघ्नकीलनविधिः ।

भावना । तदनु भूमिमध्ये निषद्य कृते गन्धमण्डले वँ-भवां वसुधाराम्बि-
भाव्य सव्यकरचन्द्रे हूँकारत्रयं विचिन्त्याङ्गुल्यग्रेण भूमेस्त्रिहननैस्तद्ध्वनिभिः
हूँकारकिरणैश्च सचोदनाऽस्थितज्ञानसत्त्वरूपं पृथिवीदेवतया सहैकीभूतां पीतां
सौम्यां शि(सि)ताम्बरधरां विचित्राभर[ण]विभूषितां गृहीतकनकभद्रघटवामकर-
द्वयामेकवक्त्रां टक्किराजमुद्रयाऽऽवाह्य पुरतः स्थितां विचिन्त्य । धूप ।

त्वं देवी साक्षिभूतासि सर्वबुद्धानुयायिनाम् ।
चर्यानयविशेषेण भूमिपारमितासु च ॥

यथा मारबलं भग्नं शाक्यसिंहेन तायिना ।
तथा मारबलं जित्वा सर्वसत्त्वार्थकारणात् ।
सर्वसिद्धिप्रवृद्धयर्थं मण्डलं लेखयाम्यहम् ॥

तदनु शङ्खक्षीरदूर्वाकुशाक्षतपञ्चरत्नादिकं धृत्वार्घं दद्यात् । मन्त्र ।

ॐ एहोहि महादेवि पृथिवीलोकमातरः
सर्वरत्नसमापूर्णदिव्यालङ्कारभूषिते ।
महानौपुरनिर्घोषवज्रसत्त्वप्रपूजिते
इदमर्घं गृहीत्वा मण्डलकर्म सुसाधय ॥

हीः ही ही हूँ स्वाहा इति त्रिरुच्चार्य । नीलाञ्जन । पूजा । पं लां घं स्तुत ।
भावना ।

सा चैवं क्रियतामित्युक्त्वा तत्रैव लीनं चिन्तयेत् ।
ततो वज्रबन्धमुद्रयाऽवष्टभ्यतां भुवम् ॥

ॐ वज्रीभव हूँ । इत्यभिमन्त्र्य वज्रबन्धविनिर्गते ज्वलद्भूँकारे विस(षं)
चैवारसातलं वज्रीकृतं विभाव्य । ॐ वज्र दृढो मे भव रक्ष सर्वान् स्वाहेति
पठन्नधितिष्ठेत् । इति वसुधाराधिवासनविधिः ।

इदानीं मण्डलादि कर्मसूपयोगाय शुभ्रादि ध्वजं सो(सु-) लिखिताष्टदल-
कमलकर्णिकायां सार्वकर्मिककलशं स्थापयेत्। तदग्रे ते स्वस्ववर्णे रञ्जितं
पात्रस्थपञ्चरंगिकसूत्रं स्थापयेत्। दक्षिणपत्रे वज्रं स्थापयेत्। उत्तरपत्रे घण्टाम्।
पश्चिमपत्रे शङ्खम्। आग्नेयादिकोणदलेषु सितपीतरक्तहरितरजोभाजनानि।
कलशोपरि नीलरजोभाजनं स्थापयेत्। इति स्थापनक्रमः।

ततोपलक्षणवर्जितं कलशं धूपयेत्। तदगर्भे तीर्थाम्बुपञ्चरत्नोषधिव्रीहि-
गव्यगन्धानि। शुभ्रवस्त्ररूपकनेत्रसुवर्णतिलकानि च्छत्रध्वजपल्लवलाजाक्षतानीति
कलशोपकरणानि धृत्वा। ॐ वज्रशिखरे ऊर्ध्वदिशां बन्ध 2 हूँ फट्। इति मन्त्रेण
कुमारीकर्तितसूत्रेण ग्रीवायां वेष्टयेत्। सर्षपपुटं गोमयञ्च। ततो भावना। वंकारजां
रत्नरूपां विचिन्त्य। ॐ वज्रामृतोदक ठ ठ हूँ। ॐ तसे 2 महातसे स्वाहा
मन्दाकिनीं जलरूपं विचिन्त्य झटिति वंकारपरिणतं नानारत्नमयं कलशं
आकारजं शुक्लधर्मोदयाकरे विभाव्य। तदनु स्वस्वबीजचिह्नपरिणामेन
स्वस्वदेवतां विचिन्त्य स्वहृद्बीजमयूखांकुशौ ज्ञानसत्त्वमानीय पुरतो दृष्ट्वा ततः
समयसत्त्वे प्रवेश्य महारागेण द्रवीभूय बोधिचित्तरूपा मृतीभूतं चिन्तयेत्। चिह्ने च
समयदेवतां ज्ञानदेवतामेकीभूतं चिन्तयेत्। आ पा धू नी पू पं लां घं स्तुत। जाप।
ॐ श्रीवज्र हे हे रु रु केत्यादि। ततो वज्री भक्तपुष्पमालान्तं पञ्चसूत्रं गृहीत्वा
जपेत्। बलि। पं लां घं स्तुत। इति कलशाधिवासनविधिः।

पूर्वे सूत्रपात्रे हूँ त्राँ ह्रीः अः आः। इति बीजनिष्पन्नपञ्चबुद्धरूपं विचिन्त्य।
आ पा। जाप। ॐ वज्रसूत्र मातिक्रम हूँ। इत्यष्टोत्तरशतं परिजपेत्। बलि। पं लां
घं स्तुत। इति सूत्राधिवासनविधिः।

दक्षिणे वज्र। हूँ कारजं पञ्चसूचिकं वज्रं सितवर्णं विभाव्य। आ पा।
जाप।

ॐ श्रीवज्र हे हे रु रु केत्यादि। ॐ वज्रसत्त्व हूँ। इति चाष्टोत्तरशतं
परिजपेत्। बलि। पं लां घं स्तुत। इति वज्राधिवासनम्।

उत्तरे घण्टा। अःकारजां घण्टां सितवर्णां विभाव्य। आ पादि। जाप। ॐ वज्रकर्म हूँ। ॐ वज्रघण्ट अः अः। इत्यष्टोत्तरशतं परिजपेत्। बलि। पं लां घं स्तुत। इति घण्टाधिवासनम्।

पश्चिमे शङ्ख। वैकारजं शङ्खं सितवर्णं विचिन्त्य। आ पादि। जाप। ॐ वज्ररत्न त्राँ। ॐ वज्रधर्म ह्रीः। इत्यष्टोत्तरशतं परिजपेत्। बलि। पं लां घं स्तुत। इति शङ्खाधिवासना।

अग्नेयाग्रे स्वस्ववर्णरंगान् ततो यथासम्भवरत्नजान् मूलजान् व्रीहिजान् पुष्पजान् वा। एकैकं नीलसितपीतरक्तहरितरङ्गान् वं यं रं सँ हँ बीजैर्निष्पन्नान् हूँ वुँ आँ जिँ खँ अक्षोभ्यादिस्वरूपान् ध्यात्वा नभो निवेशितं सर्वतथागतहस्तु हूँकारादिनिष्पन्नज्ञानरङ्गैः सहैकीभूतान् विचिन्त्य। आ पादि। जाप। ॐ हूँ वज्रचित्त समय हूँ। इत्यष्टोत्तरशतं परिजपेत्। इति नीलरङ्गस्य। तथा। ॐ ॐ वज्रचित्त समय हूँ। इति शुक्लरङ्गस्य। तथा। ॐ आः वज्रचित्त समय हूँ। इति पीतरङ्गस्य। तथा। ॐ जीँ वज्रचित्त समय हूँ। इति रक्तरङ्गस्य। एवं। ॐ खँ वज्रचित्त समय हूँ। इति हरितरङ्गस्य। एवं। ॐ खण्डरोहे हूँ 2 फट्। इत्युपरङ्गस्य। तदनु वज्रसूर्यक्रोधसमयमुद्रया चान्ते ह्रीःकारेण च प्रत्येकं रङ्गं ज्वालयेत्। प्रसारितहस्तद्वयेनाङ्गुष्ठपर्यङ्के तर्जनीमुखद्वयं सन्धिताशेषज्वालाकारेण सूर्यमण्डलं कुर्यात्। बलि। पं लां घं स्तुत। इति रङ्गाधिवासना।

ततो बीजकलशादिकं निरुपद्रवप्रदेशे स्थापयेत्। कलशच्छभिनतये (स्थापनम्)। तदनु आत्मानं वज्रसत्त्वरूपं उत्तरसाधकं च वज्रकर्मस्वभावं विचिन्त्य। ॐ वज्रसत्त्व हूँ। मूल। ॐ खण्डरोहे हूँ। कर्म। जःकारजं पीतचन्द्रसूर्यस्वरूपं चक्षुर्द्वयोः। ॐ दीप्तदृष्ट्यांकुशि जः। इत्युत्तरसाधकस्य चक्षुर्द्वये न्यस्य मटकाराभ्यामात्मनो दक्षिणेतरचक्षुषोः सूर्यचन्द्रमसौ निष्पाद्य वज्रदृष्टिमडिति स्थिरीकृत्य। सूत्राधिष्ठानमन्त्रः। ॐ अ आ अं अः स्वाहा। इति मन्त्रेण सूत्रमधिष्ठाय। नैऋत्यस्थितश्चक्रेशः। ईशाने स्थित उत्तरे साधकोऽन्योन्यं संप्रेक्ष्य सूत्रं बलयेत्। मन्त्रः। ॐ अन्योन्यानुगताः सर्वधर्माः। परस्परानुगताः सर्वधर्माः। अत्यन्तानुगताः सर्वधर्माः। ॐ वज्रसत्त्व हूँ। इति सूत्रबलनम्।

तदनूत्तरसाधको मण्डलगृहाद्वहिःप्रदेशे स्थित्वा स्वसीमावस्थितदेवादिभ्यो महाबलिं दद्यात् । चक्रेशस्तु मण्डलाभिमुखं निषद्य देवताधिवासनं कुर्यात् । तत्रायं बलिविधिः—यंकारेण वायुमण्डलं नीलं तदुपरि रँ जाताग्निमण्डलं रक्तम् । तस्योपरि हूँकारत्रयसंजातचूल्लिकाया उपरि आःकारजं बृहच्छत्रांभोजभाजनम् । तत्र भक्तादिपरिपूरितं वुँ हूँ जौँ आँ खँ लाँ माँ पाँ ताँकारजं तदधिष्ठितपञ्चामृत-पञ्चप्रदीपरूपं वातोत्तेजितज्वलिताग्नियेन (रूपेण) विलीयमानाक्षरादिकमभिनव-भानुवर्णेन्द्रवहोनिलम् । तद्वाष्पपरिणतं हूँकारजं शुक्लवज्रं विलीयामृतीभूतं पारारससदृशं देदीप्यमानं विभाव्य तदुपरि ॐकारजातं चन्द्रमण्डलं विभाव्य तस्माच्चन्द्रमण्डलाज्जातत्र्यक्षरेभ्यः स्फुरितरश्मिभिर्दशदिग्वर्त्तिनो देवादीनानीय सप्तक्षीरसमुद्रेभ्यश्चामृतमाकृष्य तत्रैव संपातयेत् । तत्र त्र्यक्षराणि वज्रं चन्द्रमण्डलं च तत्रैव लीनमवलोक्य ॐ आः हूँ ३ इत्यधितिष्ठेत् । यथोक्तबलिमालामुच्चार्य बलिं दद्यात् । पं लां घं स्तुत । इति बलिविधिः ।

इदमत्र देवताधिवासनम् । सर्वमण्डलं परिकल्प्य सर्वमण्डलस्थाने सुगन्धेनोपलिप्य पञ्चतथागतस्थानेषु चतुरस्राणि चन्दनकुंकुमादिभिर्मण्डलानि कुर्यात् । शेषदेवतास्थानेषु वर्तुलानि । भावना । तेषु मण्डलेषु स्वहृद्बीजमयूखाकृष्टं यथामण्डलं चोपविश्य यथामण्डलं पुष्पन्यासविधिना पञ्चगन्धादिकं न्यसेत् । तथैव पुष्पं न्यसेत् । आ पा । ॐ श्रीवज्र हे हे रु रु क डाकिनीजालसम्बर हूँ २ फट् स्वाहा । ॐ ह्रीं फट् हूँ हूँ फट् स्वाहा । ॐ ॐ ॐ सर्वबुद्धडाकिनीये वज्रवर्णनीये वज्रवैरोचनीये हूँ हूँ हूँ फट् फट् फट् स्वाहा ।

ॐ डाकिनीये हूँ हूँ फट् । ॐ लामे हूँ हूँ फट् । ॐ खण्डरोहे हूँ हूँ फट् । ॐ रूपिणीये हूँ हूँ फट् । दिग्दले । ॐ बोधिचित्तामृतभाण्डे हूँ हूँ फट् । विदिक् । चित्तचक्रे—ॐ कर २ प्रचण्डे हूँ हूँ फट् । ॐ कुरु २ चण्डाक्षीये हूँ हूँ फट् । ॐ बन्ध २ प्रभामतीये हूँ हूँ फट् । ॐ त्रासय २ महानासे हूँ हूँ फट् । ॐ क्षोभय २ वीरमतीये हूँ हूँ फट् । ॐ हँ २ खर्वरीये हूँ हूँ फट् । ॐ हर २ लङ्केश्वरीये हूँ हूँ फट् । ॐ फें २ द्रुमच्छाये हूँ हूँ फट् ।

वाक्चक्रम्—ॐ फट् 2 ऐरावतीये हूँ हूँ फट् । ॐ दह 2 महाभैरवीये हूँ हूँ फट् । ॐ पच 2 वायुवेगे हूँ हूँ फट् । ॐ भक्ष 2 वसरुधिरान्त्रमाला-बलम्बिनी सुराभक्षणीये हूँ हूँ फट् । ॐ गृह्ण 2 सप्तपातालगतभुजंगं सर्पं वा तर्जय 2 श्यामादेवीये हूँ हूँ फट् । ॐ आकङ्क्ष 2 सुभद्रे हूँ हूँ फट् । ॐ ह्रीं 2 हयकर्णे हूँ हूँ फट् । ॐ ज्वां 2 खगानने हूँ हूँ फट् ।

कायचक्रम्—ॐ क्षों (क्ष्मां) 2 चक्रवेगे हूँ हूँ फट् । ॐ हां 2 खण्डरोहे हूँ हूँ फट् । ॐ हिं 2 शौण्डिनीये हूँ हूँ फट् । ॐ हूँ हूँ चक्रवर्मिणीये हूँ हूँ फट् । ॐ किलि 2 सुवीरे हूँ हूँ फट् । ॐ सिलि 2 महाबले हूँ हूँ फट् । ॐ धिलि 2 चक्रवर्त्तनीये हूँ हूँ फट् । ॐ हिलि 2 महादेवीये हूँ हूँ फट् । द्वारदले । ॐ काकास्ये हूँ हूँ फट् । ॐ उलूकास्ये हूँ हूँ फट् । ॐ श्वानास्ये हूँ हूँ फट् । ॐ सूकरास्ये हूँ हूँ फट् । ॐ यमदाढीये हूँ हूँ फट् । ॐ यमदूतीये हूँ हूँ फट् । ॐ यमदंष्ट्रीये हूँ हूँ फट् । ॐ यममथनीये हूँ हूँ फट् । श्मशानं च । ॐ चण्डोग्राय स्वाहा । ॐ गह्वराय स्वाहा । ॐ ज्वालाकुलाय स्वाहा । ॐ करङ्कभैरवाय स्वाहा । ॐ अट्टाट्टहासाय स्वाहा । ॐ लक्ष्मीवनहुताशनाय स्वाहा । ॐ घोरान्धकाराय स्वाहा । ॐ किलि 2 किलारवाय स्वाहा । पं लां घं स्तुत । तदनु पूर्ववद् वज्रजिह्वां विचिन्त्य । शं पद्मसरस्वति सत्यमावर्त्य प्रशोधय हूँ ह्रीः रः ह्रीः । इति जिह्वामधिष्ठाय दक्षिणजानुमण्डलं पृथिव्यां संस्थाप्य चक्रेशं बुद्धादीन् प्रार्थयेत् । देववर्जा(?) । धूप ।

वज्रधातो महानाथ विद्याराज नमोस्तुते ।
इच्छामि लिखितुं नाथ मण्डलं करुणात्मकम् ॥

शिष्याणामनुकम्पायै युष्माकं पूजनाय च ।
तन्मे भक्तस्य भगवन् प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥

समन्वाहरन्तु मां बुद्धा जगच्चक्रक्रियार्थदाः ।
फलस्था बोधिसत्त्वाश्च याश्चान्या मन्त्रदेवताः ॥

देवतालोकपालाश्च भूताः संबोधिमाश्रिताः ।
 शासनाभिरताः सत्त्वा ये केचिद्वज्रचक्षुषः ॥
 अमुकोऽहं महावज्री सम्बरोदयमण्डलम् ।
 लिखामि च जगच्छुद्ध्यै यथाशक्त्युपचारतः ॥
 अनुकम्पामुपादाय सच्छिष्यस्य तु ते मम ।
 मण्डले सहिताः सर्वे सान्निध्यं कर्तुमर्हथ ॥

इति त्रिधाधिवासयेत् ।

नीलाञ्जन । पूजा । पं लां घं स्तुत । जाप । बलि । ततो गन्धमण्डलस्थित-
 मण्डलवज्रं धियाकाशदेश उत्थापयेत् । इति देवताधिवासना ।

ततो गन्धोपलिसहेमभाजनादौ बलिसूत्रं संस्थाप्य सुगन्धैरुपलेप्य ।
 सूत्रसंभावना । वुँ हूँ आँ जीँ खँकारैर्जनितपञ्चतथागतनिष्पन्नानि नभसि निवेशितं
 स्वस्वदिक्तः वज्रकर्मरूपं विचिन्त्य । ततो वामवज्रमुष्टिना गृहीतं सूत्रं नाभौ
 धारयन् । उत्तरसाधकैश्च तथा गृहीतं सूत्रं ज्जः ज्जः ज्जः । इति जःकारैश्चाकृष्य
 तथैवाभिमुखं स्थिते पश्चिमदिक्तः पूर्वमुखो, दक्षिणदिक्तः उत्तरदिङ्मुखो
 ब्रह्मसूत्रद्वयं नाभिसमेऽन्तरीक्षे पातयेत् वर्तुलाकारम् । सवज्रदक्षिणकराङ्गुष्ठाभ्यां
 सूत्रमादायाकुटाध्वनिं कुर्यात् । मन्त्रः । ॐ वज्रसमय सूत्रं मातिक्रम हूँ । ॐ आः
 हूँ । इत्युच्चारयन् । ततः खसूत्रद्वयवद् भूमौ ब्रह्मसूत्रद्वयोः समालम्बिताभ्यां
 ससूत्रहस्ताभ्यां पातनीयं कोणसूत्रद्वयञ्च । ततो मण्डलनाभौ चतुरङ्गुलप्रमाणमयो-
 मयमध एकसूचिकमुपरि पञ्चसूचिकवज्राकारं हूँकारजकीलकं विचिन्त्य
 कीलनमन्त्रेणाष्टोत्तरशतं परिजप्याकोटयेत् । मन्त्रः । ॐ वज्रान्त महाक्रोध
 सर्वदुष्टविघ्नानां कायवाक्चित्तं कीलय २ हूँ फट् । ॐ वज्रमुद्गर वज्रकीलय
 माकोटय हूँ फट् । ततः ऐशानीं दिशमारभ्य प्रदक्षिणतो वर्तुलसूत्राणि पातयेत् ।
 ततः सूत्रणावसाने बलिपूजापूर्वकम् । पं लां घं स्तुत ।

ॐ आः हूँ वज्रमूरिति ज्ञानसूत्रं विसृज्यति सृजं (?) नभस्थतथागतहत्सु निवेश्य पञ्चरङ्गिकसूत्रं यथास्थानं स्थापयेत्। इति सूत्रणविधिः।

ततो मण्डलनाभिस्थितकीलकं चतुःहूँकारेणोत्पाद्य हस्तस्थितवज्रे धियान्तर्भाव्य। मन्त्रः। ॐ वज्रकील उत्कीलय सर्वकीलान् वज्रधराज्ञया हूँ 4 फट् स्वाहा। कीलगर्तं पञ्चरङ्गैः पूरयेत्। पं लां घं स्तुत। अथ घण्टाध्वनिभिर्वज्रगीति-काभिर्दुर्निमित्तमपनीयम्।

धर्मधातुरयं शुद्धः सत्त्वधातुप्रमोचकः ।

स्वयं वैरोचनो राजा सर्वताथागतालयः ॥

सर्वदोषविनिर्मुक्तश्चक्राभ्यन्तरे संस्थितः। इति पठन् धर्मधातुमधिमुच्या-दावभ्यन्तरमण्डले स्थित्वा वज्राङ्कसव्यकरो वामवज्रमुष्टिना ऐशानीं दिशमारभ्य प्राङ्मुखः प्रदक्षिणतो रङ्गान्या[न]येत्। मन्त्रः। ॐ वज्रचित्तसमय रङ्ग हूँ ॐ आः हूँ। बलि। पं लां घं स्तुत। निष्पन्नरजोमण्डले हूँकारेण वज्रशिखरपरिजस-पञ्चगव्येन। वज्रय (?) परिजसपञ्चामृतेन। वज्ररक्षपरिजसगन्धोदकेन च मण्डलाद्बहिः संप्रोक्ष्य। वज्रकर्मपरिजससर्वव्रीहिभिरवकीर्य वज्ररत्नपरिजस-मुक्तपुष्पैश्चावकीर्य। शेषरजांसि ॐ आः हूँ वज्रमूरिति ज्ञानरजो विसृज्य रजोभाजनानि विजने स्थापयेत्। विसर्जन। इति रजः पातनविधिः।

तदनु प्रागधिवासितकलशान् दिक्षु वामावर्तेन विदिक्षु दक्षिणावर्तेन न्यसेत्। तत्र चक्रेशस्य विजयकलशं मण्डलचक्रस्य प्रदक्षिणं कारयित्वा वज्रप्राकारात्मकचक्रवाडज्वालावलीभूमेर्बहिः पूर्वद्वारस्य संमुखे स्थाने किञ्चिद्दक्षिणे मण्डलाचार्यकं संदृश्यमानं स्थापयेत्। तस्य वामे डाकिन्याः सव्ये काकास्यायाः। इति पूर्वे।

उत्तरद्वारे वामसव्ये लामा उलूकास्ययोः। पश्चिमद्वारे वामसव्ये खण्ड-रोहाश्वानास्ययोः। दक्षिणद्वारे वामसव्ये रूपिणीसूकरास्ययोः। आग्नेयादिकोणेषु यमदाढ्यादीनां चतुरः कलशान्। ॐ वज्र रक्ष हूँ। इति मन्त्रेण। इति कलशन्यासविधिः।

ततश्चतुर्दिक्षु मण्डलाद्वहिरार्यप्रज्ञापारमितादि सद्धर्मचतुष्टयं पाठयितव्यम्।
 कर्पूरागुरुतुरुष्कादिभिर्धूपघटिका अष्टौ स्थाप्याः। विचित्रवस्त्रसहस्रादिकं छत्र-
 ध्वजपताकादिकं हूँकारेणाधिपतिमन्त्रेण सुजप्त्वा ॐ वज्रस्फरण खँ। इत्यनेन
 निर्यात्य यथास्थानं निवेशयेत्। ततः प्रागधिवासितकीलकान् स्वस्वस्थानेऽभि-
 निवेशयेत्। तद्वहिः पञ्चदशपताकाः। पीतेन्द्रस्य। कृष्णा विष्णोः। सितेन्द्रोः।
 लोहिता रवेः। पीता पितामहस्य। पूर्वे। रक्ता वह्नेः। कृष्णा यमस्य। धूम्रा
 नैजेभ्यः(नैऋतस्य)। स्वस्वदिशि पश्चिमायां शुक्ला वरुणस्य। पीता पृथिव्याः।
 श्यामा वेमचित्रायाः। वायव्यां। शवली वायोः। उदीच्यां पीता कुबेरस्य। सिता
 गणपतेः। ऐशान्यामीशस्य शुक्लेति पञ्चदशपताकाः स्थापनीयाः। ततः
 पूर्वद्वाराभिमुखीभूय समाधित्रययोगवानाचार्यः प्रागुक्तविधिना कलशान् मामकी-
 देव्याधिवासनादिकं कुर्यात्। ततः सार्वकर्मिककलशोदकेन मण्डलमभिप्रोक्ष्य।
 ॐ खण्डरोहे हूँ 2 फट्। इति मन्त्रेण मण्डलं। ततो भावना। झटिति शून्यतानन्तरं
 रक्षाचक्रविघ्नकीलनादिविधिपरिहारितभाव्यमण्डलरूपं निरूप्य षोडशाब्दिकीं
 प्राप्य योषितं कान्तिसुप्रभां गन्धपुष्पाकुलां कृत्वा तस्य मध्ये तु कामयेत्।
 प्रसाधितबाह्यमुद्रासमापत्या तदभावे ज्ञानमुद्रासमापत्या वा समुत्तलसितसुरतध्वनिना
 समानीतं ज्ञानचक्रं पादार्घदानपुरःसरं स्वान्तर्निवेश्य महारागेण द्रवीभूय वज्रमार्गेण
 निर्गत्य पद्मे ज्ञानदेवताचक्रात्मकं स्फुरित्वा यथास्थानं समयचक्रे प्रविष्टं विचिन्त्य।
 आ पादि। धू नी। चक्षुः कायाद्यधिष्ठानं लोहाग्निरक्षा। स्वहृद्दी[ज]मयूखा-
 कृष्टस्तथागतदेवीभिरभिषिच्य यथायोगम्। स्नान। पूजा। पुष्पधूपदीपनैवेद्यादिकं
 उपढौकयित्वा चतुर्द्वारेषु। ततः शीतलिकावस्त्रयुगं वितानलंबितवस्तुनार्पयेत्। पू पं
 लां घं स्तुत। ततः पञ्चसूत्रवज्रं गृहीत्वा मण्डलेशमन्त्रं जपेत्। पञ्चसूत्रवज्रसहिता
 ॐ मण्डल सतेजयत्वा नमाल(?)। मण्डलेयानां प्रत्येकमेकविंशतिवारान्।
 शताक्षरं। मोहिनसाधनम्। पं लां घं स्तुत। दिग्बलि भावना। स्वहृदि हूँकार-
 रश्मिभिर्दशक्रोधरता चक्रे शाभ्यन्तरगतकूटागारोदरस्थमण्डलरक्षाचक्राद्वहिर्दिक्षु
 इन्द्रादिसपरिधानपरिमितांश्चाकृष्य लभेदिति। त्रिरुच्चार्य ॐ कर्कध्वंस बन्ध
 बन्धन ख ख खादन सर्वदुष्टान् हन 2 घ घ घातय 2 अमुकस्य शान्तिं कुरु हूँ 2
 फट् 2 स्वाहा। बाह्ये इन्द्रादीन्। झटिति शून्यतानन्तरं शाम्बलिकदेवतामूर्तिं

विभाव्य। पं लां घं स्तुत। बलि। हूँ जं रक्तैकशूकवज्रजिह्वं तद्रश्मिमालिभिर्मनसा
चाकृष्टममृतमूर्धुञ्जीत। भगवतः प्रज्ञाडाकिन्यादिकाकास्यादीनाञ्च। ॐ वज्रडाकिनि-
इमं बलिं गृह्ण 2 हूँ फट्। जः हूँ वं होः समयस्त्वं होः। त्रिचक्रदेवतानाम्।
ॐ कर 2 कुरु 2 इत्यादि। पं लां घं स्तुत। बहिरिन्द्रादीनां। इन्द्रादि वज्री सह
देवसंघैरित्यादि। पं लां घं स्तुत। ॐ ख ख खाहि 2 इत्यादि। पं लां घं स्तुत।
तदनु ॐ त्रैलोक्यविजय हूँ। इति पठन् पुष्पमालामादाय। ॐ सुम्भ निसुम्भ हूँ 2
फट्। ॐ गृह्ण 2 हूँ 2 फट्। ॐ गृह्णापय 2 हूँ फट्। ॐ आनय हो भगवन्
विद्याराज हूँ फट्। इति मन्त्रमावर्त्तयन् घण्टावादेन मण्डलं परिभ्रमेत्। उत्तरे। तथा
वज्रपदेन ॐ हूँ फट्। पूर्वे। ॐ आः फट्। दक्षिणे। ॐ आः 3 फट्। पश्चिमे।
ॐ हूँ हन मारय सर्वदुष्टान् घातय 2 अ 3 हूँ ह्रीं फट्। उत्तरे। ततो
ज्वलद्दीपमादाय दीपेन मण्डलं पश्येत्। ततो द्वारोद्घाटनम्। ॐ वज्रोद्घाटय
समयप्रवेशय हूँ। इति पठन्। प्रदक्षिणयन् पश्चिमद्वारादिचतुष्टयमुद्घाटयेत्। ॐ
समयं प्रविशामि। इत्युत्थाय पुनर्माली[रालीढ]नृत्यत्रादाय स्वशिरसि बद्ध्वा चक्रं
प्रणम्य। स्तुतिः। सर्वसत्त्वानां सर्वसिद्धिः प्रसादीकुरुध्वमिति विज्ञापयेत्।

इति मण्डलसाधनविधिः¹ ॥

1. इतः परं मातृकायाम् निर्दिष्टम्—पञ्चविधोऽत्र ज्येष्ठानुक्रमः—अभिषेकज्येष्ठानुक्रम एकः। ...ज्येष्ठानुक्रमो
द्वितीयः। ज्ञानज्येष्ठानुक्रमस्तृतीयः। जन्मज्येष्ठानुक्रमश्चतुर्थः। विद्याज्येष्ठानुक्रमः पञ्चमः।

ABSTRACT OF ARTICLES

Bhagavannāmāṣṭottaraśatastotram

1-2

It is a hymnal extract of the 26th chapter of *sarvatathāgatatattva-saṁgraha*, which is given in this issue.

Maṇḍaladevīstutiḥ

3-4

It is a hymnal extract of the *maṇḍalasādhana*vidhi, a text on tantric rites published in this issue.

Science of Medicine in the Kālacakratāntra

5-10

Since body is the repository of all dharmas, neither the worldly nor divine accomplishments are possible in its being sick or weak. It is considered that although the yogī keeps balance in his actions and takes balanced diet, even then the body constituted of vile elements belongs to the yogī and ordinary human being. So, he is also prone to the defilement of wind, phlegm and cough that may produce disease in him. There is a provision of healing of a body in tantric literature. We reproduce here some medical treatment practices from the 6th section on *Rasāyana* given in the 2nd *paṭala* (or chapter on spiritual attainments) of the very famous text on *Kālacakratāntra*. These medical excerpts may be found useful by those who would carefully go through them for application in the course of healing.

Five Jñāna Elements as Conceived by Padmavajra

11-22

The author of this article has earlier presented in the 32nd issue of this journal analysis of 37 elements as discussed by Padmavajra in his *Tantrārthāvatāra* commentary. In the same order he has discussed the five *jñāna* elements in this essay. As, ādarśajñāna, samatājñāna, suviśuddha-dharmadhātujñāna, pratyavekṣaṇajñāna and kṛtyānuṣṭhānajñāna. The discussions are based on the writings of mkhas-grub-rje. The author is

confident that the discussion on the 37 elements will shed light on the history of Buddhist esoterism.

Caturdharmoddānasūtra : A Brief Introduction

23-30

There are three important *sūtras* concerning *āryasāgaranāgarāja-paripṛccha-nāma* in the collection of the Tibetan Kangyur. In this article last of these *sūtras* *caturdharmoddānasūtra* is briefly discussed. The particular theme relates to four *dharmamudrās* which cannot be transcended by any *nikāya*. These are disciplinary codes infringement of which brings slur on the order.

The *caturdharmoddānasūtra* is a complete in itself *sūtra*. Appearing in a slimform, the *sūtra* is most important for instruction. This has been restored in Sanskrit from original Tibetan and presented in Hindi for general comprehension.

The Ethical Classical Aspects of Tantrik Abhiṣeka

31-36

Abhiṣeka occupies a prominent place in both the Buddhist and non-Buddhist tantric practices. For this before the conferment of *abhiṣeka*, certain vows are essential for meritorious and un-wanted actions. In Buddhist tantric glossarial terms these are known as “samaya” or “saṁvara”. These are repeated at the time of *abhiṣeka*. In case there is some error or fault in the practice of vows the *sādhaka* is charged with two kinds of allegations (downfalls), *mūlāpatti* (primal allegation) and *sthūlāpatti*, the secondary allegation. In the present article the theme has been investigated from a classical ethical angle.

Source Material of Rare Texts

37-58

We noticed 43 important manuscripts of the *avadāna* Text in 33rd issue of *Dhīḥ*. In this issue we are informing details of 44 manuscripts belonging to *avadāna* category.

*A critical Analysis of the Vātsī-putrīya Pudgala
(In the light of Tattvasaṃgraha)*

59-72

There are two primary *nikāyas*; *sthaviravāda* and *mahāsaṃghika*. Eleven *nikāyas* evolved from *sthaviravāda* and five *nikāyas* had their evolution from the *mahāsaṃghika*. One of the *nikāyas* of the *sthaviravāda* is called *vātsīya-putraka* (*vajji-putraka*), which accepts the existence of *pudgala* (being). This created a doctrinal difference from the school of elders, *sthaviravāda*. The reason for their acceptance of *pudgala* is that Buddha himself in no place denied its existence. It is evident from the “Bhārahārasūtra”. The present analysis of *pudgala* is taken from ācārya Śāntarakṣita's erudite treatise, the *Tattvasaṃgraha*.

Outline of Esoteric Literature

73-90

A famous Tibetan text *rGyud-sde-spyi-hi nam par gzag-pa* of Bu-ston (key to tantric literature) translated into Hindi has been published in the previous issues of the journal. In the same order present issue constitutes a Hindi translation of the “path”, code of “Samaya” (vow) and the nature of different tantras.

Importance of the Ṣaḍakṣarī-mantra

91-96

There is a fine exposition of *ṣaḍakṣarī-mantra* “om maṇi padme hūm”, in Pandit Hemarāja Śākya's eminent work *Nepala Saṃskṛitiya Mulukha*. The mantra relates to *āryāvalokiteśvara*. The work discusses the significance of the mantra, its accomplishments and number of *japas*. Written in the Newāri language it behoves well to have it in Hindi.

शक्ति पूजा एवं प्रतीक

97-108

शक्ति पूजा में प्रतीकों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोग होता है। ये प्रतीक देवी-देवताओं के प्रतिनिधि स्वरूप हैं। तन्त्रों में शक्ति स्त्री या माता के रूप में स्वीकृत है। महानिर्वाण तन्त्र में शक्ति को काली, तारिणी, दुर्गा, षोडशी, भुवनेश्वरी इत्यादि रूपों में कहा है। इन शक्तियों का विभिन्न प्रतीकों जैसे—यन्त्र, मणि, वृक्ष, पीठ, मण्डप इत्यादि द्वारा पूजा

की जाती है। इन में श्रीयन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। काली, तारा आदि दश महाविद्याओं की भी यन्त्रों द्वारा पूजा की जाती है। ये महाविद्याएं भी शक्ति स्वरूप हैं।

प्रकाशित बौद्धतन्त्र ग्रन्थों की सूची

109-128

बौद्धतन्त्र ग्रन्थों की यह संक्षिप्त सूची प्रकाशित ग्रन्थों की अद्यतन सूचनाओं को देने का एक लघु प्रयास है। हमें ज्ञात है कि बौद्धतन्त्रों में अत्यल्प ग्रन्थ प्रकाशित हैं और प्रकाशित हो रहे हैं। 19वीं शती के अन्त में पश्चिमी देशों के विद्वानों ने इनके प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ किया था, तब से आज तक अनेक महत्त्वपूर्ण तन्त्र ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं। बौद्धतन्त्रों के समग्र एवं गम्भीर अध्येताओं के लिए इनकी यावत् सूचनाएं एकत्र होना आवश्यक है। हमें आशा है कि हमारा यह प्रयास उस दिशा में एक सार्थक कदम होगा। विद्वद्बर्ग से यह अपेक्षा रहेगी कि इस विषय की नवीनतम जानकारीयों से हमें अवगत कराते रहेंगे।

Maṇḍalasādhanaṣidhiḥ

129-144

Maṇḍala is a vital aspect of tantric ritual, without it no *abhiṣeka* in tantra could be given. Maṇḍalas are of several kinds. The maṇḍala constructed for *abhiṣeka* must undergo a *pūjā* rite. The process in that in conformity with proper codex is : the guru makes his pupil enter in the maṇḍala. Diverse worship methods are prescribed in different orders of tantra. Methods of worship themselves dilate on the invoked deities, *ḍākas* and *ḍākinīs*.

The Institute has obtained a copy of the manuscript of *maṇḍalasādhanaṣidhiḥ* from New York, from Institute for Advanced Studies of World Religions. The manuscript has been redacted here and published. It is pleasant to know that it glimpses mellifluous hymns of divines in the maṇḍala.

ཙམ་གྱི་ངོ་སྤྲོད་མདོར་བསྡུས།

བཙམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་མཆན་བརྒྱ་ཙ་བརྒྱད་ཀྱི་བསྟོད་པ།

༡ - ༢

དུས་དེའི་འདོན་ཐངས་འདིའི་ནང་དེ་བཞིན་གསེགས་པ་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་བསྡུས་པའི་ལེའུ་ཉེར་དྲུག་པ་
ལས་སྒྲངས་པའི་བསྟོད་པ་ཁག་ཅིག་འདིར་བཀོད་ཡོད།

དཀྱིར་འཁོར་ལྷ་མོའི་བསྟོད་པ།

༢ - ༧

བསྟོད་པ་འདི་ནི་དཀྱིལ་འཁོར་སྐྱབ་ཐབས་ཀྱི་ཆོ་ག་ཞེས་བྱ་བའི་གཞུང་ལས་སྤྲུགས་བདུས་བྱས་
ཀྱིས་འདིར་དབར་བསྐྱུན་བྱས།

དུས་འཁོར་དུ་གསལ་བའི་སྤྲན་སྟོར་གྱི་ཆོ་ག

༣ - ༡༠

‘ཆོས་བསྐྱབ་པའི་ཕྱིར་ལུས་ནི་དངོས་པོར་ངེས་པའོ།’ ཞེས་ཡོངས་སུ་གྲགས་པ་ལྟར་ལུས་ཉིད་བདེ་
བར་མི་གནས་པ་ན་འཇིག་རྟེན་ཆེ་འདིའི་དངོས་གྲུབ་ཐོབ་པ་ལྟ་གཤམ་ཡོད་ཆེ་ཕྱི་མའི་དངོས་གྲུབ་
ཀྱང་ཐོབ་མི་རུས་པས། བདེ་བའི་མཆོག་རྣམས་མཁྱེན་གྱི་གོ་འཕང་སྐྱབ་པའང་མི་རུས་སོ། རྣལ་
འབྱོར་པ་ཉལ་དུ་སྟོད་པར་གཞོལ་ཞིང་། ཁ་ཟས་དང་། གནས་ཁང་རྣམས་ལ་འཆམས་པར་སྟོད་
ཀྱང་རུང་། རྣལ་འབྱོར་པ་དང་སྤྲེས་བྱ་པལ་པའི་ལུས་ནི་འབྱུང་བ་ལྟ་ལས་གྲུབ་པ་མཉམ་པ་ཡིན་
པས། དེར་རྒྱུང་མཁྲིས་བད་ཀན་གསུམ་གྱི་ཉེས་པ་གང་རུང་གིས་འགྱུར་ལྡོག་ལས་ནད་བྱུང་བ་ནི་
ཆོས་ཉིད་ཡིན། དེས་ན་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་སུ་ནད་དེ་དག་གི་སྤྲན་སྟོར་གྱི་ཆོ་ག་རྣམས་བསྟན་ཡོད།
ཉ་ཅང་གྲགས་ཆེ་བའི་རྒྱུད་གཞུང་དུས་ཀྱི་འཁོར་ལོའི་ལེའུ་གཉིས་པ་ནང་གི་བདག་ཉིད་དུ་དབུ་ཆ་
དྲུག་ཅུ་རེ་བདུན་གྱི་མན་ངག་བསྟན་པ་རྣམས་ཐམས་ཅད་ལ་ངེས་པར་མཁོ་བས་སྤྲན་སྟོར་གྱི་ལུང་
འདྲན་འགའ་ཞིག་ཀྱང་འདིར་བཀོད་ཡོད།

བསྐྱེད་པའི་བཞེད་པ་ལྟར་གྱི་ཡེ་ཤེས་ལྡིང་བདག་ཉིད་ཀྱི་དེ་ཁོ་ན་ཉིད། 22 - 23

རྒྱུ་དེ་ལ་སོ་གཉིས་པའི་ནང་བསྐྱེད་པའི་མཛད་པའི་རྒྱུ་དོན་ལ་འབྲུག་པའི་འབྲེལ་པའི་དབང་དུ་
བྱས་ཏེ་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་སོ་བདུན་གྱི་དགོངས་ཚུལ་བསྐྱེད་པ་དེ་ལས་འབྲེལ་ཏེ། ཚུལ་བྱིས་པས་འདོན་
ཐངས་འདིར་“བསྐྱེད་པའི་བཞེད་པ་ལྟར་གྱི་ཡེ་ཤེས་ལྡིང་བདག་ཉིད་ཀྱི་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་”ཞེས་པའི་འགོ་
བརྒྱུད་ལོག་མེ་ལོང་ལྟ་བུའི་ཡེ་ཤེས། མཉམ་པ་ཉིད་ཀྱི་ཡེ་ཤེས། ཤིན་དུ་རྣམ་པར་དག་པའི་ཆོས་ཀྱི་
དབྱིངས་ཀྱི་ཡེ་ཤེས། སོ་སོར་རྟོག་པའི་ཡེ་ཤེས་དང་། བྱ་བ་གྲུབ་པའི་ཡེ་ཤེས་ཞེས་པར་བོད་ཀྱི་
མཁས་དབང་མཁས་གྲུབ་མེད་ཡེ་ཤེས་ལྡིང་བདག་ཉིད་ཀྱི་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་ཀྱི་དགོངས་ཚུལ་གྱི་དབང་དུ་
བྱས་ཏེ་བཀོད་ཡོད། ཚུལ་བྱིས་པས་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་སོ་བདུན་གྱི་འབྲེལ་པ་ལ་བརྟེན་ནས་ནང་པའི་རྒྱུ་
གཞུང་རྣམས་ཀྱི་འབྱུང་རིམ་དང་འབྲེལ་བའི་སྐྱོར་ལ་ལམ་སྟོགས་གསུམ་པ་ཞིག་རྟེན་པར་བཞེད།

ལྟ་བ་བཀར་བཏགས་ཀྱི་ཕྱག་རྒྱ་བཞི་དང་དེའི་རྣམ་བཞག་སྟོན་པའི་

མདོའི་ངོ་སྟོན་མདོར་བསྟུས།

23 - 30

རྒྱལ་བའི་བཀའ་བོད་སྐད་དུ་པབ་བསྐྱར་ཞུས་པའི་བཀའ་འབྱུང་སྟོགས་བདུས་ནང་“འཕགས་པ་སྐུ་
ཡི་རྒྱལ་བོ་རྒྱ་མཚོས་ཞུས་པ་ཞེས་བྱ་བའི་མདོ་”རྒྱས་འབྲིང་བསྟུས་གསུམ་བཞགས་པ་ལས་འདིར་
བཀོད་པ་ནི་བསྟུས་པ་དེ་ཡིན། མདོ་འདིའི་བརྒྱུད་བྱ་ཆོས་ཀྱི་སྟོན་བཞི་འམ་ལྟ་བ་བཀར་བཏགས་ཀྱི་
ཕྱག་རྒྱ་བཞི་ནི་ནང་པའི་གཞུང་ལུགས་རྣམས་སུ་ཉ་ཅང་གྲགས་ཆེ་ཞིང་གལ་གནད་ཆེ་བའི་གནད་
དོན་ཞིག་ཡིན། ནང་པའི་ལྟ་བུ་ཁས་ལེན་ཅིང་སྐྱ་བ་ཞིག་ཡིན་ན་དེ་དག་གི་མཚམས་ལས་འདའ་
མེ་འོས་པ་ཞིག་དང་། དེ་ལས་འགལ་ཆེ་ནང་པའི་ལྟ་བུ་ཁས་ལེན་གྱིས་བཞེས་པར་འཛོག་མེ་འོས་པ་
ཞིག་ཡིན། སྐབས་འབྲེལ་གྱི་མདོ་འདི་ནི་ཆོས་ཀྱི་སྟོན་བཞི་སྟོན་བྱེད་ཀྱི་མདོ་རང་མཚན་པ་ཞིག་ཡིན།
གཞུང་ཆད་ཉ་ཅང་བསྟུས་པའི་གཞུང་རྒྱུད་ཞིག་དུ་མདོན་ཡང་། བརྒྱུད་དོན་གྱི་ཆ་ནས་ནང་པའི་ལྟ་
བུ་གྱི་ཟབ་གནད་ལྟག་དང་བཅས་པ་སྟོན་བྱེད་ཀྱི་གཞུང་ཁྱད་པར་ཅན་ཞིག་ཡིན་པས་མཚོག་དུ་
སྒྲུང་བར་བྱ་བ་ཞིག་དུ་སྒྲུང་། འདིར་གཞུང་འདིའི་ཙ་བའི་མ་ཕྱི་བོད་བསྐྱར་སྐར་མ་དང་ལྟན་དུ་ལེགས་

སྐྱར་སྐྱད་ཐོག་ཉམས་གསོ་དང་འབྲེལ་ཉིན་སྐྱད་ཐོག་པའ་བསྐྱར་ཞུས་ནས་དུས་དེའི་འདིའི་ནང་དཔར་
བསྐྱར་ཞུས་ཡོད།

ཐུང་དུ་དབང་བསྐྱར་བའི་སྟོན་ཚུལ།

३१ - ३५

ཕྱི་ནང་གཉིས་ཀའི་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་སུ་གསང་སྤྲུགས་ཀྱི་ལམ་དུ་འཕྲུག་པ་དང་། བསྐྱབ་པའི་ཆེད་
སྟོམ་པ་དང་དབང་ལ་སོགས་པའི་ཆོ་ག་བསྐྱན་པ་དང་། སྟོམ་པ་དང་དབང་བསྐྱར་བའི་སྟོན་དུ་བསྐྱབ་
པར་བྱ་བ་དང་བསྐྱབ་བྱ་མ་ཡིན་པ་རྣམས་ཀྱི་ཁས་ལེན་བྱེད་དགོས་པ་དང་། དེ་ལ་ནང་པའི་ཐུན་མིན་
ཐ་སྙད་དུ་དམ་ཆོག་གམ་སྟོམ་པ་ཞེས་བཞིན། དབང་མོད་པའི་དུས་སུ་དམ་ཆོག་དང་སྟོམ་པ་རྣམས་
བྱང་བར་བྱེད་པ་ཡིན། གལ་ཏེ་དམ་ཆོག་དང་སྟོམ་པ་དེ་དག་བསྐྱང་མི་ཐུབ་ན་དེའི་ཆོ་སྤྱོད་པ་པོ་ལ་
ཅ་ལུང་དང་ལུང་བ་སྟོམ་པོ་རྣམས་བྱང་བ་ཡིན། འདོན་ཐེངས་འདིར་དམ་ཆོག་སྟོམ་པ་དང་ཚུལ་
ཁྲིམས་རྣམས་ཀྱི་སྟོན་ཚུལ་ལ་དབྱེད་པ་གང་ཐུབ་ཀྱིས་བསྐྱན་ཡོད།

ཆེས་དཀོན་གསུང་རབ་ཁག་གི་རྩ་བའི་མ་དཔེ།

३७ - ४८

རྫོང་དུས་དེའི་འདོན་ཐེངས་སུ་མ་ཕུ་སོ་གསུམ་པའི་ནང་འགོ་བཅོད་འདིའི་འོག་གལ་ཆེའི་རྟོག་བཅོད་
ཀྱི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་མ་བཞི་བརྩ་ཞེ་གསུམ་གྱི་སྟོར་བསྐྱན་ནས། ད་ལན་འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་
དེའི་འགྲོས་ཀྱི་རྟོག་གཞུང་བཞི་བརྩ་ཞེ་བཞེའི་ངོ་སྟོན་ཞུས་ཡོད།

གནས་མ་བྱ་པའི་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་ལ་གཞི་བྱས་ཏེ་གང་ཟག་གི་བདག་ལ་དབྱེད་པ། ४९ - ७३

ཉན་ཐོས་ཀྱི་སྡེ་པར་གནས་བརྟན་པ་དང་པལ་ཆེན་པ་བཅས་རྩ་བའི་སྡེ་གཉིས་སུ་ཡོད། གནས་
བརྟན་སྡེ་པ་ལས་སྡེ་པ་གཞན་ཁག་བརྩ་གཅིག་དང་པལ་ཆེན་སྡེ་པ་ལས་སྡེ་པ་ལྟར་འགོས། གནས་
མ་བྱ་པའང་གནས་བརྟན་སྡེ་པ་ལས་འགོས་ཏེ་བྱང་ཞིང་གང་ཟག་གི་བདག་འདོད་པའི་སྟོན་གནས་

བཏན་ཐེ་པ་རྣམས་ལ་འགགས་པ་བྱེད། དེ་འང་གནས་མ་བྱ་པས་གང་ཟག་གི་བདག་ཡོད་པའི་སྐབ་
བྱེད་དུ་བཅོམ་ལྷན་འདས་ཀྱིས་གསུངས་པའི་ “ཁྱར་འཁྱར་བའི་མདོའི་” ཁྱངས་བྱངས་སོ། །དེའི་
སྐོར་ལ་ཚོམ་བྱིས་པས་སློབ་དཔོན་ཞི་བ་འཆོས་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་བསྐྱས་པའི་ནང་ལ་རྒྱས་ཤིང་རྒྱས་པར་
དབྱེད་པ་མཛད་ཚུལ་དེ་དག་གི་བསྐྱས་དོན་འདིར་བསྟན་ཡོད།

བྱ་སྟོན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་པའི་རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་གཞག་བསྐྱས་པ། ༧༢-༧༠

རྒྱུ་འདོན་ཐེངས་སྔ་མ་རྣམས་སུ་བྱ་སྟོན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་པའི་ “རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་གཞག་བསྐྱས་
པ་རྒྱུད་སྡེ་རིན་པོ་ཆེའི་གཏེར་སྟོ་འབྱེད་པའི་ལྡེ་མིག་” ཅེས་པའི་གཞུང་འདི་ཉིད་ཀྱི་ཆ་ཤས་ཤིག་ཉིན་
སྐད་ཐོག་པལ་བསྐྱར་བྱས་ཡོད། ད་ལན་འདོན་ཐེངས་འདིར་དེའི་འགྲོས་རྒྱན་འབྲས་ནས་རྒྱུད་སྡེའི་
ཁྱད་པར་འཕགས་པ་སོ་སོའི་དབྱེ་བའི་ནང་ཆོན་ལས་ལམ་མཛོན་རྟོགས་དང་། བསྐྱར་བྱ་དམ་ཆོག་
དང་། རྒྱུད་རང་གི་ངོ་བོའི་བཞུགས་ཚུལ་རྣམས་ཉིན་སྐད་ཐོག་པལ་བསྐྱར་བྱས་ཡོད།

གཟུངས་སྒྲགས་ཡིག་དྲུག་གི་ཆེ་བ།

༧༡ - ༧༩

མཁས་དབང་ཉེ་མར་ཤུགས་རང་ཉིད་ཀྱི་ཚོམ་དེབ་ “ནེ་ཤལ་སྐྱོད་ཡུ་ལུ་ལུ” ཞེས་པའི་ནང་
འཕགས་པ་སྐྱར་རས་གཟིགས་ཀྱི་གཟུངས་སྒྲགས་ཡི་གེ་དྲུག་པ་ཨོམ་ཆིབ་སྟེ་རྩྱུ་གི་གསལ་བཤད་
རྒྱས་པར་བསྟན། དེ་དང་ཆབས་ཅིག་སྒྲགས་འདིའི་བཞུས་བཛྲོད་ལས་བྱུང་བའི་དངོས་གྲུབ།
འབྲས་བྱ་དང་བཞུས་བཛྲོད་ཀྱི་གྲངས་ཇི་ཙམ་བྱེད་དགོས་པ་བཅས་མདོར་བསྟན་ནས་འདིའི་ཆེ་བའི་
སྐོར་རྒྱས་པར་བསྟན་ཡོད། བྱིས་ཚོམ་འདི་ནི་ནེ་ཤལ་རྩྱུ་སྐད་ཐོག་ཡོད་ཅིང་འདིར་ཡིག་དྲུག་གི་གསལ་
གནད་ཀྱི་ངོ་སྟོན་སྤྱིང་དོན་མདོར་བསྐྱས་ཏེ་ཉིན་སྐད་དུ་བཀོད་ཡོད།

ནུས་མའི་མཆོད་པ་དང་མཆན་མ།

༢༧ - ༡༠༤

ནུས་མའི་མཆོད་པར་མཆན་མ་རྣམས་དངོས་བརྒྱད་ཀྱི་སྒོ་ནས་ལྟ་དང་ལྟ་མའི་གཟུགས་ཀྱི་ཚུལ་དུ་
བེད་སྤྱོད་བྱེད་སྒོལ་ཡོད། རྒྱུད་གཞུང་དུ་ནུས་མ་ཞེས་པ་ནི་བྱ་མེད་དམ་ཡུམ་ལ་བཟོད། སྤང་འདས་
ཆེན་པོའི་རྒྱུད་དུ་ནུས་མ་ཞེས་པ་ནི་ནག་མོ། སྒྲོལ་མའམ་སྒྲོབ་མ། བགྲོད་དགའ་དང་སའི་དབང་
ལུག་བརྩུ་བྱ་མ་ལ་སོགས་པའི་གཟུགས་སུ་གསུངས། རུས་མ་དེ་དག་ལ་འཕྱལ་འཁོར་། རོར་བྱ།
སྤོང་བོ། གནས་དང་། དཀྱིལ་འཁོར་ལ་སོགས་པ་མཆན་མ་སྣ་ཚོགས་པའི་སྒོ་ནས་མཆོད་པར་བྱེད།
དེ་དག་ལས་དཔལ་འཕྱལ་འཁོར་ནི་ཆེས་གྲགས་ཆེ་བ་ཡིན། ནག་མོ་དང་སྒྲོལ་མ་ལ་སོགས་པ་རིག་
མ་ཆེན་མོ་བརྩུ་བོ་རྣམས་ལའང་འཕྱལ་འཁོར་གྱིས་སྒོ་ནས་མཆོད་པའོ། རིག་མ་ཆེན་མོ་དེ་དག་
ཀྱང་ནུས་མའི་རང་བཞིན་ཡིན་པའི་སྒྲོར་འདིར་བསྟན།

ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ཁག་གི་དཀར་ཆག

༡༠༥ - ༡༢༤

དེ་སྔ་དཔར་བསྐྱུན་ཟིན་པའི་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ཁག་གི་དཀར་ཆག་བསྐྱུས་པའི་ངོ་སྤྱོད་ཞུ་རྒྱུའི་
འབད་བརྩོན་བྱས་ཡོད། ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ཁག་ལས་ཆེས་ཉུང་ཤས་ཤིག་གི་དཔར་བསྐྱུན་ཞུས་པ་
དང་ཞུ་བཞིན་ཡོད་པ་ང་ཚོས་ཤེས་རྟོགས་བྱུང་ཡོད། དུས་རབ་བརྒྱད་ཀྱི་པའི་མ་མར་རྒྱབ་སྤྱོགས་ཀྱི་
མཁས་དབང་ཁག་ནས་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་དཔར་བསྐྱུན་ཞུ་འགོ་འཛུགས་པ་ནས་ད་བར་གལ་ཆའི་
གསུང་རབ་མང་པོ་ཞིག་དཔར་བསྐྱུན་ཞུས་ཡོད། འདིར་དཔར་བསྐྱུན་ཞུས་པའི་ད་ལྟའི་བར་དུ་དཔར་
ཐོན་བྱུང་བའི་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ཁག་གི་དཀར་ཆག་རྣམས་ལས་རྒྱུད་གཞུང་དེ་དག་ལ་ཡོངས་སུ་
རྫོགས་པ་དང་ཟབ་པའི་སྒོ་ནས་སྒྲོབ་གཉེར་གནང་མཁན་རྣམས་ལ་དགོས་མཁོ་ཆེ་བའི་དོན་སྤྲོད་ལྟར་
པ་ཞིག་ཡོང་རྒྱུའི་རེ་བ་དང་། མཁས་དབང་རྣམས་ཀྱིས་ཀྱང་རྒྱུད་གཞུང་ཁག་གི་དཔར་གསར་ཐོན་
བྱུང་བ་རྣམས་ཀྱི་གནས་ཚུལ་གནང་བའི་རེ་བའང་ཡོད།

དགྲིལ་འཁོར་སྐྱབ་ཐབས་ཀྱི་ཚེ་ག།

༡༢༧ - ༡༢༨

དགྲིལ་འཁོར་ནི་རྒྱུད་དུ་གལ་ཆེ་བའི་ཡན་ལག་ཅིག་ཡིན་པ་དང་། རྒྱུད་སྡེ་གང་ཡང་རུང་བའི་དབང་
 བསྐྱར་བའི་ཆེད་དགྲིལ་འཁོར་མེད་དུ་མི་རུང་བའི་ཆ་རྒྱུན་ཞིག་ཡིན་ཅིང་། དགྲིལ་འཁོར་ལའང་སྣ་
 ཚོགས་ཡོད། དབང་བསྐྱར་བའི་ཆེད་དགྲིལ་འཁོར་བཞེངས་ནས་དེ་མཆོད་པའི་ཚེ་ག་ཡང་ཡོད།
 སྐྱབ་དཔོན་གྱིས་དབང་བསྐྱར་བའི་དོན་དུ་ཡང་དག་པར་གནས་པའི་དགྲིལ་འཁོར་ཉིད་དུ་སྐྱབ་མ་
 འདུག་པར་བྱེད། དགྲིལ་འཁོར་མཆོད་པའི་ཚེ་ག་ཡང་རྒྱུད་སྡེ་སོ་སོ་ལ་བཞེན་པའི་མི་འདྲ་བ་སྣ་
 ཚོགས་སྣང་། དེ་དག་སོ་སོའི་ནང་དགྲིལ་འཁོར་སོ་སོའི་ལྷན་གཙོ་བོ་དང་དེ་དང་ལྷན་དུ་གནས་པའི་
 ལྷ་དང་ལྷ་མོ་དང་། མཁའ་འགྲོ་དང་མཁའ་འགྲོ་མའི་འཁོར་རྣམས་ཀྱི་དོ་སྤྲོད་ཀྱང་མཇུག་རྒྱུ་ཡོད།

དགྲིལ་འཁོར་སྐྱབ་ཐབས་ཀྱི་ཚེ་གའི་ལག་བྲིས་ཕྱག་དཔེ་ཞིག་ཨ་རིའི་གྲོང་འབྲེར་ནེུ་ཡོ་ཏཱ་
 ནང་ཡོད་པའི་འཛམ་གླིང་ཚོས་ལུགས་ཀྱི་མཐོ་རིམ་སྐྱབ་གཉེར་ཁང་ (Institute for Advanced
 Studies of World Religions, Newyork) ནས་ཐོབ་པ་དེར་ཞུ་བསྐྱོགས་བྱས་ཏེ་འདིར་
 དཔར་བསྐྱུན་ཞུས་ཡོད། དེར་དགྲིལ་འཁོར་དུ་གནས་པའི་ལྷ་རྣམས་ཀྱི་བསྟོད་བ་སྐྱར་འཁོར་པའང་
 བཞུགས་སོ། །

...







